राजस्थानी-साहित्य
की
गौरवपूर्ण परम्परा

[कलकत्ता विश्वविद्यालय की 'रघुनाथप्रसाद नोपानी-स्मृति-व्याख्यान-माला' के अन्तर्गत दिये गए व्याख्यान]

आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर

अगरचन्द नाहटा

राधाकृष्ण प्रकाशन

प्राक्कथन

कलकत्ता के प्रसिद्ध औद्योगिक संस्थान के स्वर्गीय श्री रघुनाथप्रसाद नोपानी की पुण्य-स्मृति में उनके अग्रज श्री रामेश्वरलालजी नोपानी ने १९४७ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय को २५ हजार रुपये की राशि 'श्री रघुनाथप्रसाद नोपानी-स्मृति-व्याख्यानमाला' की स्थापना के लिए अनुदान में दी थी जिसके अन्तर्गत प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा राजस्थान के इतिहास, साहित्य और संस्कृति पर व्याख्यान दिये जाने की योजना थी। अनुबन्ध के अनुसार ये व्याख्यान अंग्रेजी या बंगला में ही दिए जाते थे। सन् १९६५ में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने सर्व-प्रथम हिन्दी में भी इस व्याख्यानमाला का सूत्रपात किया और राजस्थानी साहित्य और संस्कृति के प्रकाण्ड विद्वान् और लेखक श्री अगरचन्द नाहटा को राजस्थानी साहित्य पर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी व्याख्यानमाला के अन्तर्गत दिये हुए व्याख्यानों का संकलित रूप है।

श्री नाहटाजी प्राचीन हिन्दी-साहित्य के मूर्धन्य विद्वान हैं और उन्होंने अपनी निरन्तर खोज और अध्ययन से प्राचीन राजस्थानी साहित्य की अनेक लुप्त कड़ियों का संधान कर हिन्दी के प्राचीन इतिहास और साहित्य के अध्ययन के नवीन आयाम प्रस्तुत किये हैं। यह हमारा सौभाग्य था कि उन्होंने इन व्याख्यानों के लिए अपनी स्वीकृति देकर इस व्याख्यानमाला का हिन्दी में शुभारम्भ किया। देश के अनेक विद्वानों ने इन व्याख्यानों की प्रशंसा की और उन्होंने शीघ्र ही पुस्तकाकार प्रकाशित करने का सुझाव भी दिया। श्री राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली ने अत्यन्त अल्प समय में इन व्याख्यानों को प्रकाशित करके हमें अपना सहयोग दिया है, जिसके लिए उसके संचालक श्री ओमप्रकाश को मैं बधाई देता हूँ। मेरा विश्वास है कि इस प्रकाशन से राजस्थानी साहित्य की नवीन सामग्री प्रकाश में आयी है एवं हिन्दी के प्राचीन साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की नवीन दिशाएँ भी उपलब्ध हुई हैं।

—कल्याणमल लोढ़ा

अध्यक्ष : हिन्दी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता

क्रम

१

राजस्थानी साहित्य की गौरवपूर्ण परम्परा

राजस्थान एक विशाल और गौरवशाली प्रदेश है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व यह प्रदेश कई राज्यों में विभक्त था। उन राज्यों या प्रदेशों की भी सीमा सदा एक-सी नहीं रही। प्राचीन काल में राजस्थान के विभिन्न भागों के अलग-अलग कई नाम थे जिनमें जांगल, सपादलक्ष, मत्स्य, मेदपाट, बागड़, मरु, माड, गुर्जरत्रा आदि कई नाम तो काफी प्रसिद्ध हैं। ओझाजी ने इनके अतिरिक्त कुरु, सूरसेन, राजन्य, शिबि, प्राग्वाट, अर्बुद, वल्ल, त्रवणी, मालव नाम भी बतलाये हैं। अंग्रेजों ने इन राज्यों के समूह का नाम 'राजपूताना' रखा। जार्ज टॉमस ने अपने मिलिट्री मैमोयर्स में 'राजस्थान' शब्द का प्रयोग सं० १९५७ में किया। तदनन्तर जेम्स कर्नल टाड ने राजस्थान के राज्यों का सर्वप्रथम इतिहास, एक संग्रह ग्रन्थ के रूप में लिखा और उसमें इन राज्यों के समूह का नाम 'राजस्थान' प्रयुक्त किया गया। टाड के राजस्थान के इतिहास नामक ग्रंथ से देश और विदेश में इस प्रदेश की गौरवगाथा अधिक रूप से प्रसिद्धि में आयी। अनेक लेखकों ने टाड के इतिहास से प्रेरणा लेकर बहुत से ग्रंथ लिखे हैं। बंगला भाषा में बंगीय विद्वानों के लिखित टाड के इतिहास पर आधारित कई ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं।

राजस्थान का प्राचीन इतिहास बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सिन्धु-सभ्यता से भी पहले से यहां का इतिहास प्रारम्भ होता है। राजस्थान के कई स्थानों में इधर कुछ वर्षो में खुदाई हुई है और उससे यहां की प्राचीन संस्कृति पर अभूतपूर्व प्रकाश पड़ा है। पुरातत्त्व की दृष्टि से राजस्थान बहुत समृद्ध है क्योंकि अन्य प्रदेशों की अपेक्षा मुसलमानी साम्राज्य के समय भी यह अधिक सुरक्षित रहा। प्राचीन मन्दिरों व मूर्तियों, शिला-लेखों एवं हस्तलिखित ग्रंथों की जितनी अधिक संख्या राजस्थान में है, उतनी अन्यत्र शायद ही हो।

साहित्य, संगीत और कला सभी क्षेत्रों में राजस्थान का उल्लेखनीय स्थान है। यहां के वीरों, सन्तों, सतियों, साहित्यकारों एवं कलाकारों की परम्परा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मूर्तिकला और चित्रकला की बहुत बड़ी सामग्री आज भी यहां सुरक्षित है। हस्तलिखित ग्रंथ भण्डार भी यहां सैकड़ों की संख्या में विद्यमान हैं और उनमें लाखों प्रतियां संगृहीत हैं। इस प्रदेश का जैसलमेर का जैन ज्ञान भण्डार तो काफी प्रसिद्ध है। यहां ताडपत्रीय और कागज की प्राचीनतम प्रतियों के साथ-साथ सचित्र काष्ट-पट्टिकाएँ और सचित्र ताड़पत्रीय एवं कागज की प्रतियां भी उपलब्ध हैं। जैसलमेर के जैन मन्दिर

व हवेलियां आदि भी बहुत ही कलापूर्ण हैं। आबू के जैन मन्दिर तो अपनी बारीक कोरणी के लिए विश्वभर में अद्वितीय हैं। इस भूमि के महाराणा प्रताप, मीराबाई, सन्त दादू आदि को कौन नहीं जानता? संस्कृत कवियों में प्रसिद्ध कविश्रेष्ठ माघ भी राजस्थान की ही विभूति थे। आचार्य हरिभद्र जैसे अनेक महान् जैनाचार्यों ने अपनी दार्शनिक और साहित्यिक रचनाओं द्वारा राजस्थान का मुख उज्ज्वल किया है।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल अपने 'मातृभूमि' नामक निबन्ध में राजस्थान की महिमा बतलाते हुए लिखते हैं—

"जिस राजस्थान की महिमा का पार चन्द्र और सूरजमल की लेखनी भी पूरी तरह पा नहीं सकी, वहां के क्षात्रधर्म का सम्पूर्ण चित्र कौन खींच सकता है? जब सरस्वती नदी समुद्र तक बहती थी, उस पुण्ययुग में यह मरुभूमि सलिलार्णव के नीचे छिपी हुई थी। विधाता के विशेष प्रसाद से वीर-रस ने अपने निवास के लिए इस भूखण्ड को सागर-गर्भ से प्राप्त किया था। यहां के रणबांकुरे नर-पुंगवों और आर्य-वेदियों के उदात्त चरित्रों का ज्ञान करके कविगण अनन्त काल तक अपनी लेखनी को पवित्र करते रहेंगे। यहां का प्रत्येक स्थान एक न एक वीर की कीर्तिगाथा से सम्बद्ध है। यहां पद-पद पर आर्य नारियों ने सहस्रों की संख्या में सनातन सतीत्व की रक्षा के लिए हँसते-खेलते आत्मबलि दी है। इसके अर्बुद पर्वत की दुर्गम घाटियों ने अनेक बार राजस्थान की आकुल मर्यादा को बचाया है। बापा रावल, समरसी, राणा कुम्भा तथा राणा सांगा जैसे वीर इसी राजस्थान में जन्मे हैं। हिन्दू जाति को स्वातन्त्र्य का पाठ पढ़ाने वाले अमर आचार्य महाराणा प्रतापसिंह ने यहीं सिसोदिया वंश की मानरक्षा के लिए संसार-प्रसिद्ध हल्दीघाटी के युद्ध में असंख्य यवन सेना का वध किया था। जिस नीले चेतक के अश्वारोही का चरित्र राजस्थान के प्रत्येक घर में आज भी गाया जाता है, उस वीरकेशरी का यश जब तक भारत वसुन्धरा के युवकों में प्राण है, तब तक अक्षुण्ण बना रहेगा।

"राजस्थान ने किसी समय यौधेय तथा मालवगणों को शरण दी थी। पंजाब प्रदेश के समान ही यह भूमि भी अनेक गणराज्यों की जननी रही है। उनके अंक और लांछनों से चिह्नित मुद्राएँ आज भी पायी जाती हैं। यहां की मध्यमिका नगरी किसी समय शिबि जनपद की राजधानी थी। उसमें संकर्षण और वासुदेव के देवधाम थे। इसी राजस्थान में विराट नगर था, जहां पाण्डु-कुल के वंशतन्तु को अविच्छिन्न रखने वाली देवी उत्तरा का जन्म हुआ था। यहीं दक्षिण में महाकवि माघ की जन्मभूमि श्रीमाल नगरी है। राजस्थान के क्षत्रियों के छत्तीस कुलों का पृथक्-पृथक् विस्तार वर्णन प्रायः असम्भव ही है। पद्मिनी और दुर्गावती की जन्मभूमि को आर्य सन्तान अब भी श्रद्धा के साथ प्रणाम करती है। भक्ति-स्रोतस्विनी मीराबाई का स्मरण करके भारतीय महिलाओं के मुख-मण्डल आज भी प्रसन्नता से जगमगा उठते हैं। श्रद्धा की साक्षात् मूर्ति मीरा के अध्यात्म अनुभव बड़े अमूल्य हैं।"

साहित्य और इतिहास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजस्थान का इतिहास ही नहीं पर भारत के अन्य अनेक भूभागों का इतिहास भी राजस्थान में प्राप्त व सुरक्षित साहित्य में सन्निहित है। राजस्थान के इतिहास की तो थोड़ी जानकारी बहुत-से लोगों को है पर

यहां के विशाल और महत्वपूर्ण साहित्य की जानकारी इने-गिने लोगों को ही होगी।

प्रस्तुत भाषणमाला में राजस्थान के इतिहास और कला सम्बन्धी भाषण हतः पूर्व हो चुके हैं इसलिये भी मैंने अपने भाषणों का विषय राजस्थान के साहित्य को चुना है। वास्तव में साहित्यकारों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व इतिहास का ही एक अंग है। जिस तरह राजाओं आदि शासकों का इतिहास ऐतिहासिक ग्रंथों में दिया जाता है, उसी तरह सन्तों एवं साहित्यकारों का विवरण भी इतिहास-ग्रंथों में आना ही चाहिए। केवल राज्यों व राजाओं का इतिहास, इतिहास का एक अंग हो सकता है, पूरा इतिहास नहीं। विशेषतः आजकल के इतिहास-ग्रंथों में तो जन-जीवन, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं का लेखा-जोखा देना बहुत ही आवश्यक माना जाता है और राजस्थान के साहित्य का अध्ययन किये बिना यहां की संस्कृति के सम्बन्ध में समुचित जानकारी मिल ही नहीं सकती। जन-जीवन के जीवन्त-चित्रों, उनके रीति-रिवाजों, भावनाओं, रहन-सहन आदि अनेक बातों की जानकारी साहित्य के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। जिस तरह राजाओं, ठाकुरों आदि शासकों ने जन-जीवन और इतिहास को प्रभावित किया उसी तरह सन्तों व साहित्यकारों का भी जनता या समाज पर काफी प्रभाव पड़ा है। सन्तों की जीवनी और वाणी से तो जन-समाज ने बहुत बड़ी प्रेरणा ग्रहण की है। राजस्थान के अनेक वीरों के चरित्र एवं ऐतिहासिक घटनाओं को जानने का साधन यहां का साहित्य ही है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए मैं अपने भाषणों में राजस्थान की गौरवपूर्ण साहित्यिक परम्परा के सम्बन्ध में आप लोगों को कुछ जानकारी दूंगा।

राजस्थान के ग्रंथ भण्डार

राजस्थान की साहित्यिक परम्परा का परिचय देने से पूर्व यहां के हस्तलिखित ग्रंथ भण्डारों का संक्षिप्त परिचय दे देना मैं आवश्यक समझता हूं। वैसे तो राजस्थान के अनेक ग्राम-नगरों में हस्तलिखित प्रतियों का संग्रह है। अतः यहां उन कुछ प्रमुख संग्रहालयों का ही उल्लेख किया जा रहा है जिनमें सुरक्षित साहित्य का परिचय आगे दिया जायेगा। जैसा कि पहले कहा गया है राजस्थान के ज्ञान-भण्डारों में सर्वाधिक प्रसिद्धि जैसलमेर के बड़े ज्ञान भण्डार को मिली है। देश और विदेश के कई विद्वानों ने यहां पहुंचकर इस ज्ञान भण्डार का निरीक्षण किया एवं विवरण लिखा और छपवाया है। जैसलमेर में बड़े ज्ञान भण्डार के अतिरिक्त और भी कई हस्तलिखित ग्रंथ-संग्रहालय हैं। उनका संक्षिप्त परिचय 'ज्ञानोदय' में प्रकाशित मेरे लेख में कई वर्ष पूर्व छप चुका है। बृहद् ज्ञान भण्डार में ४२६ ताडपत्रीय प्रतियां हैं जिनमें विशेषावश्यक भाष्य की प्रति दसवीं शताब्दी की मानी जाती है। इन प्रतियों में केवल जैन ग्रंथ ही नहीं हैं पर बहुत-से ऐसे जैनेतर ग्रंथ भी हैं जिनकी प्रतियां अन्यत्र कहीं नहीं मिलतीं। जैनेतर ग्रंथों की इतनी प्राचीन व शुद्ध प्रतियां अन्यत्र दुर्लभ ही हैं। इन ताडपत्रीय प्रतियों के दोनों ओर जो काष्ट-पट्टिकाएं हैं उनमें से कई तो विविध प्रकार के चित्रों से अलंकृत हैं। अपभ्रंश काल की चित्रशैली के अध्ययन की दृष्टि से इनका बड़ा भारी महत्त्व है। कई ग्रंथों के निर्माण एवं लेखन की प्रशस्तियां भी अनेक ऐतिहासिक तथ्यों पर नया प्रकाश डालती हैं। नागरी लिपि में

लिखी हुई ताडपत्रीय प्रतियों की सर्वाधिक संख्या गुजरात के पाटण और राजस्थान के जैसलमेर में ही है। कागज़ पर लिखी हुई भी २२५७ प्रतियां इस बड़े ज्ञान भण्डार में हैं जिनमें तेरहवीं शताब्दी की प्रतियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मुनि पुण्यविजयजी ने अब इस भण्डार को बहुत ही व्यवस्थित और सुरक्षित कर दिया है। उनकी बनाई हुई नई सूची शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है।

हस्तलिखित प्रतियों की संख्या की दृष्टि से बीकानेर के ज्ञान भण्डार सबसे अधिक समृद्ध हैं। मैंने गत ३५ वर्षों में हस्तलिखित प्रतियों के संग्रह का विशेष प्रयत्न किया तो ३० हजार से भी अधिक प्रतियां तो हमारे 'अभय जैन ग्रंथालय' में ही संगृहीत हो गई। इसी तरह श्रीपूज्यजी, जयचन्दजी, मोतीचन्द खजांची आदि का संग्रह जो अब राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान की बीकानेर शाखा में रखा हुआ है, यहां की प्रतियों की संख्या भी करीब २० हजार के करीब पहुंच चुकी है। बीकानेर के महाराजा की अनूप संस्कृत लायब्रेरी में १५ हजार और बड़े उपाश्रय में १० हजार, इस तरह केवल ४ संग्रहालयों में ही ७५ हजार हस्तलिखित प्रतियां सुरक्षित हैं। अन्य फुटकर संग्रहालयों में भी करीब १० हजार प्रतियां होंगी। इस तरह करीब एक लाख हस्तलिखित प्रतियों का संग्रह केवल बीकानेर में ही है। इनमें से अनूप संस्कृत लायब्रेरी की प्रतियों की सूची के छः भाग प्रकाशित हो चुके हैं। अनूप संस्कृत लायब्रेरी का धर्मशास्त्र, तन्त्र आदि विषयक ग्रंथों का संग्रह भी बहुत ही मूल्यवान है पर उनके सूचीपत्र अप्रकाशित हैं। राजस्थानी, हिन्दी ग्रंथों का भी यहां अच्छा संग्रह है। महाराजा अनूपसिंह बहुत बड़े साहित्य-प्रेमी थे। इन्होंने स्वयं और अपने आश्रित विद्वानों से अनेक विषयों के ग्रंथ बनवाये हैं। इनके आश्रित भाव मिश्र ने केवल संगीत-सम्बन्धी ११ ग्रंथ संस्कृत में बनाये हैं जिनकी प्रतियां इस लायब्रेरी में हैं। इन ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण मैं 'संगीत' पत्रिका में प्रकाशित कर चुका हूं।

राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान का मुख्य कार्यालय जोधपुर में है। मुनि जिनविजयजी के तत्वावधान में यहां ३०-३५ हजार प्रतियों का संग्रह हो चुका है। जयपुर, कोटा, टोंक, अलवर, उदयपुर, चित्तौड़, बीकानेर आदि जगहों में इसकी शाखाएं हैं। समस्त शाखाओं को लेकर इस संस्था के अन्तर्गत करीब ८० हजार हस्तलिखित प्रतियां होंगी।

राजकीय संग्रहालयों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण महाराजा जयपुर का पोथीखाना है जिसमें विविध विषयक १८ हजार प्रतियां बतलाई जाती हैं पर अभी तक उनको देखने की सुविधा नहीं दी जा रही है। जयपुर के दिगम्बर शास्त्र भण्डारों में करीब १५ हजार और स्थानकवासी विनयचन्द्र जैन ज्ञान भण्डार में भी १० हजार प्रतियां होंगी।

जोधपुर में प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के अतिरिक्त राजस्थानी शोध संस्थान में १० हजार, महाराजा के पुस्तक प्रकाश में ४-५ हजार प्रतियां हैं और अन्य संग्रहालयों में मिलाकर जोधपुर में भी करीब ५० हजार प्रतियां होनी सम्भव हैं।

दिगम्बर शास्त्र भण्डारों में सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण संग्रह नागौर का भट्टारकीय ज्ञान भण्डार है। १२ हजार से अधिक प्रतियां इस भण्डार में सुरक्षित हैं जिनमें बहुत से

अपभ्रंश के ग्रंथ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दूसरा भट्टारकीय संग्रह अजमेर में है और तीसरा आमेर में था जो अब जयपुर के महावीर भवन में आ चुका है।

उदयपुर के सरस्वती भवन, साहित्य संस्थान, दिगम्बर, श्वेताम्बर जैन भण्डारों आदि में कुल मिलाकर करीब १५ हजार प्रतियां होंगी। इसी तरह राजस्थान के अन्य अनेक ग्राम-नगरों में[१] आज भी लाखों हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त हैं। इनसे राजस्थान के साहित्यिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक तथ्यों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश मिल सकता है।

राजस्थान के साहित्य का संग्रह राजस्थान तक ही सीमित नहीं है, क्योंकि राजस्थान के अधिवासी भारत के कोने-कोने में प्रायः सभी प्रांतों में निवास करते हैं एवं वहां उनके धर्मगुरु आदि भी जाते रहते हैं, इसलिये राजस्थान में रचित व लिखित प्रतियां भारत के अन्य प्रदेशों में भी हजारों की संख्या में प्राप्त हैं। भारत में ही नहीं, विदेशों में भी राजस्थान का साहित्य पर्याप्त पहुंच चुका है। इंडिया ऑफिस लायब्रेरी के गुजराती एवं राजस्थानी हस्तलिखित ग्रंथों का विवरण स्वतन्त्र ग्रंथ के रूप में प्रकाशित हो चुका है। गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल आदि के संग्रहालयों में राजस्थान की बहुत-सी प्रतियां जा चुकी हैं। यहां उनमें से केवल कलकत्ता के हस्तलिखित ग्रंथ संग्रहालयों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। क्योंकि ये भाषण कलकत्ता में विश्वविद्यालय की ओर से हो रहे हैं इस जानकारी से यहाँ के साहित्य-प्रेमी शोधस्नातक विशेष लाभान्वित हो सकते हैं। इन संग्रहालयों में राजस्थानी साहित्य की उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित है।

कलकत्ता के ग्रंथ-संग्रहालय

(१) **एशियाटिक सोसायटी बंगाल का ग्रंथालय :** इस समृद्ध ग्रंथालय के विवरणात्मक सूचीपत्र भी प्रकाशित हो चुके हैं। डॉ० एल० पी० तेस्सितोरी ने राजस्थान से अनेक राजस्थानी व हिन्दी की हस्तलिखित प्रतियां एवं उनकी नकलें करवा के यहां भेजी थीं तथा अन्य ग्रंथों का भी संग्रह होता रहा है। स्वर्गीय रामदेवजी चोखानी के प्रयत्न से राजस्थानी ग्रंथों की सूची तैयार हुई थी। उस विवरणात्मक सूची का अब तक केवल एक ही भाग प्रकाशित हुआ है।

(२) **गुलाबकुमारी लायब्रेरी :** स्वर्गीय पूरणचन्द्र जी नाहर ने कुमारसिंह हाल में साहित्य व कला का बहुत बड़ा संग्रह किया था। इसमें स्वर्णाक्षरी-रौप्याक्षरी आदि अनेक महत्त्वपूर्ण सचित्र प्रतियों के साथ पांच हजार से अधिक हस्तलिखित प्रतियां हैं। इनमें जैन ग्रंथों की अधिकता होने पर भी पृथ्वीराज रासो, संगीत दर्पण, रसनिधान आदि हिन्दी व राजस्थानी के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। यहां की अधिकांश प्रतियां राजस्थान की हैं।

(३) **जैन-भवन का ग्रंथालय :** अजीमगंज के सम्भवनाथ जिनालय का हस्तलिखित ग्रंथ भण्डार जैनभवन में लाकर सुरक्षित किया गया है। इसमें राजस्थान के काफी

---

१. देखें, मरुभारती, वर्ष—१, अंक—१ में मेरा लेख।

ग्रंथ हैं। कुल ३००० हस्तलिखित प्रतियां हैं जिसकी सूची श्री भँवरलाल नाहटा ने बड़े परिश्रम से तैयार की है। बंगाल की आबहवा हस्तलिखित प्रतियों के अनुकूल न होने से ये प्रतियां अत्यन्त बुरी हालत में आयी थीं। उन्हें यथासम्भव सुरक्षित करने का प्रयत्न किया गया है।

(४) **श्री नित्य-विनय मणि जीवन जैन पुस्तकालय** : नं० ९६ केनिंग स्ट्रीट में स्थित गुजराती तपगच्छ संघ के उपाश्रय में लगभग २७०० हस्तलिखित प्रतियां हैं जिनमें बहुत-सी प्रतियाँ राजस्थानी भाषा एवं कवियों की रचनाओं की भी हैं।

(५) **बद्रीदास जी के जैन मन्दिर का संग्रहालय** : सुप्रसिद्ध बद्रीदासजी जोहरी के बगीचे में लगभग १००० हस्तलिखित प्रतियां पड़ी हैं, जिनकी सूची भी नहीं है। हमने कई वर्ष पूर्व ये प्रतियां देखी थीं। वे सभी प्रायः राजस्थान की हैं, कुछ ग्रंथ तो उनमें अन्यत्र अप्राप्य भी हैं, जिनकी सुरक्षा व सुव्यवस्था अत्यावश्यक है।

(६) **श्री जैन श्वेताम्बर पंचायती मन्दिर** : कॉटन स्ट्रीट नं० १३९ में स्थित बड़े मन्दिरजी की एक मंजूषा में कुछ बंडल हस्तलिखित ग्रंथों के हैं। ये प्रतियां भी राजस्थान की हैं।

(७) **श्री जिनरंगसूरि पोशाल** : आडी बांसतल्ला में खरतरगच्छ की लखनऊ शाखा की पोशाल में यति सूर्यमलजी का संग्रह है जिसमें लगभग ६०० हस्तलिखित प्रतियां हैं। इनकी भी सूची मेरे भ्रातृपुत्र भंवरलाल ने बड़े परिश्रम से बनाई थी, पर वह प्राप्य नहीं है।

(८) **श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा** : नं० ३, पोर्टुगीज चर्च स्ट्रीट में इस संस्था के पुस्तकालय में राजस्थान से आयी हुई कुछ हस्तलिखित प्रतियां हैं।

(९) **श्री बहादुरसिंहजी सिंघी संग्रह** : गरिया हाट रोड, नं० ४८ (सिंघी पार्क) में कलाप्रेमी श्रीसिंघी जी के संग्रह में प्राचीन चित्रों के साथ-साथ सचित्र व हस्तलिखित प्रतियों का भी अच्छा संग्रह है जिसकी सूची भी हमने बनाई है।

(१०) **दिगम्बर जैन मन्दिर** : चावल पट्टी में स्थित पुराने जन मन्दिर में करीब १००० हस्तलिखित प्रतियां हैं जिनमें राजस्थान के दिगम्बर कवियों की बहुत-सी रचनाएं हैं।

(११) **चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन मन्दिर** : ८२ रवीन्द्र सरणी स्थित जिनालय में करीब ३०० हस्तलिखित प्रतियां हैं।

(१२) **श्री चुन्नीलाल नवलखा संग्रह** : इसमें राजस्थान की कई सचित्र प्रतियां विशेष उल्लेखनीय हैं।

(१३) **जालान स्मृति मन्दिर** : यहां करीब २००० हस्तलिखित प्रतियां हैं पर विशेष उल्लेखनीय राजस्थान रिसर्च सोसायटी का संग्रह है जिसमें राजस्थानी साहित्य व इतिहास की बहुत-सी महत्त्वपूर्ण सामग्री है जिसे राजस्थान में घूम-घूमकर श्री रघुनाथ प्रसाद सिंहानिया व श्री भगवतीप्रसादसिंह बीसेन ने बड़ी लगन और प्रयत्न से संगृहीत किया था।

(१४) **बंगाल हिन्दी मण्डल** : सुप्रसिद्ध उद्योगपति बिड़लाजी द्वारा संचालित

इस संस्था द्वारा राजस्थान के साहित्य सम्बन्धी बहुत ही उल्लेखनीय सामग्री का संग्रह पिलानी में किया गया था, अभी वह हिन्दी हाई स्कूल में रखा हुआ है।

(१५) संस्कृत कॉलेज पुस्तकालय (कॉलेज स्ट्रीट) में भी हस्तलिखित प्रतियों का अच्छा संग्रह है जिसमें राजस्थान की बहुत-सी प्रतियां होंगी। और भी अनेक व्यक्तियों के पास राजस्थान की चित्रकला, साहित्य, इतिहास विषयक उल्लेखनीय सामग्री है।

राजस्थान के साहित्य का प्रारम्भ

राजस्थान की साहित्यिक परम्परा का प्रारम्भ बहुत प्राचीन समय से होता है। राजस्थान के एक हिस्से में सरस्वती नदी बहती थी। कहा जाता है कि वहां रहते हुए ऋषि-मुनियों ने वेदों की ऋचाएँ लिखीं। इसके बाद भी प्रवाद के अनुसार महर्षि कपिल, बीकानेर राज्य के कोलायत नामक स्थान में हुए, उनका स्वतन्त्र दर्शन सांख्य मत के रूप में प्रसिद्ध ही है। राजस्थान के अन्य अनेक भागों में भी प्राचीन ऋषि-मुनियों आदि के स्थान बतलाये जाते हैं जहां रहते हुए उन्होंने साहित्य निर्माण किया ही होगा, पर प्राचीन साहित्य में अधिकांश रचयिताओं ने तो अपना एवं रचना-स्थान का नामोल्लेख भी नहीं किया, अतः कौन-सी रचना कहां पर हुई, यह बतलाने का कोई साधन नहीं है।

राजस्थान के अनेक स्थान तो तीर्थ रूप में प्रसिद्ध हो गये और उनका माहात्म्य पुराणादि ग्रंथों में प्राप्त होता है। अजमेर का निकटवर्ती पुष्कर तीर्थ तो बहुत प्रसिद्ध है। वहां का 'माहात्म्य' प्राप्त है ही। इसी तरह के और भी अनेक स्थानों के माहात्म्य कई पुराणों में मिलते हैं।

राजस्थान में श्रीमाल नगर लक्ष्मीदेवी का निवासस्थान माना जाता रहा है। इस नगर के माहात्म्य के रूप में श्रीमाल माहात्म्य या पुराण प्राप्त है और वह प्रकाशित भी हो चुका है। मत्स्य प्रदेश का बैराट नगर भी प्राचीन स्थान है एवं वहां खुदाई भी हो चुकी है। वहां अशोक का शिलालेख भी प्राप्त हुआ है। कहा जाता है कि पाण्डव वहां रहे थे।

इस तरह के एक नहीं, अनेक प्राचीन स्थान हैं जहां के नाम से बहुत-सी जातियों के नाम पड़े। चौरासी जातियों की नामावली में बहुत-सी जातियों के नाम राजस्थान के किसी नगर विशेष से सम्बन्धित हैं। जैसे श्रीमालपुर से श्रीमाल जाति प्रसिद्ध हुई। श्रीमाली, ब्राह्मण और वैश्य दोनों हैं। इसी तरह ओसियां से ओसवाल, खंडेला से खंडेल-वाल, पाली से पल्लीवाल, प्राग्वाट प्रदेश से पोरवाल, मेड़ता से मेड़तवाल, डीडवाना से डीडू, जालोर से सोनगरा, सांचोर से सांचोरा, हर्षपुर या हरसोर से हरसोरा, चित्तौड़ से चित्तौड़ा, नागोर से नागोरी, मेवाड़ से मेवाड़ा आदि जातियां प्रसिद्ध हुईं। छोटे-छोटे, ग्राम-नगरों से भी अनेक गोत्र प्रसिद्धि में आये। इन गोत्रों और जातियों वाले राजस्थान के निवासी प्रायः सारे भारतवर्ष में फैले हुए हैं। राजस्थान की जातियों के सम्बन्ध में कई ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। राजस्थान के इतिहास-निर्माण में जातियों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक-एक जाति में ऐसे-ऐसे विशिष्ट पुरुष हुए हैं जिनके द्वारा राजस्थान बड़ा गौरवान्वित हुआ है। भारत के अन्य प्रदेशों में भी, विशेषतः तीर्थों आदि में उनके स्थापित

मन्दिर, धर्मशालाएँ आदि अनेक सर्वजनोपयोगी संस्थाएँ चल रही हैं।

राजस्थान में अनेक भाषाओं और विषयों का साहित्य रचा गया है। इस साहित्य का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है :

१. भाषाओं के भेद से, प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी—इन पांच भाषाओं में प्रधान रूप से साहित्य-निर्माण होता रहा है।

२. विषय-वैविध्य तो इतना अधिक है कि विषयों के नाम बतलाने की अपेक्षा यही कहना ज़्यादा उपयुक्त है कि जीवनोपयोगी कोई भी ऐसा विषय एवं साहित्य की कोई भी ऐसी विधा नहीं है जो राजस्थान के साहित्यकारों की लेखनी से अछूती रही हो। कई विषयों के तो ऐसे महत्त्वपूर्ण और विशाल ग्रंथ राजस्थान में रचे गये कि जिन विषयों पर अन्य किसी प्रदेश में इतने और ऐसे ग्रंथ नहीं रचे गये।

३. तीसरा वर्गीकरण रचयिताओं की भिन्नता को लेकर किया जा सकता है। जैसे—राजाओं और उनके आश्रित विद्वानों और कवियों का साहित्य, ब्राह्मण आदि वैदिक या पौराणिक परम्परा के विद्वानों के रचित धर्मशास्त्र, तन्त्र-मन्त्र आदि विषयों का साहित्य, जैन आचार्यों और मुनियों का साहित्य भी बहुत विशाल है। उनकी रचनाएँ केवल जैन-धर्म सम्बन्धी ही नहीं हैं पर सर्वजनोपयोगी अनेक विषयों के ग्रंथ उन्होंने उपरोक्त पांचों भाषाओं में लिखे हैं। साथ ही जैनेतर साहित्य की संरक्षा में भी उनका बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। विविध विषयों के बहुत-से जैनेतर ग्रंथों पर उन्होंने विस्तृत टीकाएँ बनाई हैं। हजारों जैनेतर ग्रंथों की शुद्ध एवं प्राचीनतम प्रतियां जैन ज्ञान भण्डारों में प्राप्त हैं। यह जैन विद्वानों की उदारता और विशाल हृदय का परिचायक है। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का तो समग्र साहित्य जैन मुनियों और कवियों की ही देन है। संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी में भी गद्य और पद्य तथा विविध विधाओं का साहित्य जितना जैन साहित्यकारों ने रचा है, उतना और किसी ने भी नहीं। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों का राजस्थान में अच्छा प्रचार रहा है। जैन आचार्य व मुनि-गण गांव-गांव में घूमकर धर्म-प्रचार करते थे, साथ ही साहित्य-निर्माण, लेखन और संरक्षा का प्रयत्न भी चालू रहता था। जैन श्रावकों का भी राज्य-संचालन में प्रमुख हाथ रहा है :

४. चौथे वर्गीकरण में सन्त एवं भक्त कवियों का साहित्य रखा जा सकता है। राजस्थान में अनेक सन्त एवं भक्त सम्प्रदाय हैं जिनका प्रभाव राजस्थान तक ही सीमित न होकर भारत के अन्य प्रदेशों में भी रहा है और उनका साहित्य भी बहुत विशाल है।

पांचवें वर्गीकरण में चारणी साहित्य और छठे में लोक-साहित्य को रखा जा सकता है। चारण जाति के हजारों कवि हो गये हैं और लोक-साहित्य के निर्माता तो प्रायः अज्ञात ही रहते हैं।

२

राजस्थानी साहित्य का विकास

भारतीय भाषाओं में संस्कृत और प्राकृत सबसे प्राचीन हैं। संस्कृत के स्वरूप में परिवर्तन अवश्य हुआ पर वेदकाल से लेकर आज तक उसकी धारा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। प्राकृत तो जनभाषा थी, उसके अनेक रूप थे। प्राकृत में प्रादेशिक अन्तर तो काफी रहा है, पर समय-समय पर प्राकृत भाषा में इतना परिवर्तन होता गया कि आगे चलकर वह जनभाषा नहीं रही, हां, कई शताब्दियों तक वह साहित्य की ही प्रमुख भाषा रही। प्राकृत के बाद जन-भाषा का जिसे गौरव प्राप्त है वह है—अपभ्रंश। उसे बिगड़ी हुई प्राकृत या बदली हुई प्राकृत भी कह सकते हैं। चौथी-पांचवीं शताब्दी से अपभ्रंश में साहित्य लिखा जाने लगा, यद्यपि इतना प्राचीन अपभ्रंश साहित्य अब प्राप्त नहीं है। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में जनभाषा और भी परिवर्तित हो गई और उसी का परिवर्तित रूप उत्तर भारत की प्रान्तीय भाषाएँ हैं।

वि० संवत् ८३५ में जालोर में जैनाचार्य उद्योतनसूरि के रचे हुए 'कुवलय माला' नामक प्राकृत के ग्रन्थ में १६ प्रदेशों की जनपदीय भाषाओं के उदाहरण प्राप्त होते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि भाषाओं के प्रान्तीय भेद नवीं शताब्दी में भी उल्लेख-योग्य बन चुके थे। राजस्थान का सबसे बड़ा भूभाग मरु प्रदेश या मारवाड़ के नाम से प्रसिद्ध है, इसलिए यहां की भाषा का प्राचीन नाम भी मरु भाषा या मरुवाणी प्राप्त होता है। राजस्थान में रचे गये ग्रन्थों में जिस ग्रन्थ में राजस्थान के ग्राम नगरों का उल्लेख है और जिसका समय निश्चित-सा है वह ग्रन्थ है—जैनाचार्य हरिभद्रसूरि का 'धूर्ताख्यान'। प्राकृत भाषा की इस अनोखी रचना का निर्माण चित्तौड़ में होने का उल्लेख ग्रन्थ के अन्त में पाया जाता है[1]।

हरिभद्र का समय आठवीं शताब्दी का मुनि जिनविजयजी ने सिद्ध किया है। इसके बाद दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सं० ९१४ में आचार्य जयसिंहसूरि ने 'धर्मोपदेशमाला' की स्वोपज्ञवृत्ति सहित रचना नागौर में की। इन दोनों रचनाओं के बीच में उपरोक्त 'कुवलयमाला' की रचना संवत् ८३५ में जालोर में हुई। दसवीं के उत्तरार्द्ध (वि० स० ९६२) में श्रीमाल नगर में जिसका प्रसिद्ध नाम भिन्नमाल या भिल्लमाल पाया

---

१. चित्तउडदुग्ग सिरीसंठिएहिं, सम्मत्तराय रत्तेहि।
सुचरिअ समूह सहिआ कहिआ एसा कहा सुवरा॥

जाता है, रहते हुए आचार्य सिद्धर्षि ने 'उपमितिभवप्रपंचाकथा' नामक विश्व साहित्य का अद्वितीय रूपक ग्रन्थ संस्कृत में बनाया। इसके बाद तो संवत् और रचना-स्थान के उल्लेख वाले अनेक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

जैनेतर ग्रन्थों में संवत् और स्थान का उल्लेख प्राचीन रचनाओं में बहुत ही कम मिलता है। निश्चित समय के जैनेतर विद्वानों की रचनाओं में सबसे अधिक उल्लेखनीय है 'शिशुपालवध' महाकाव्य। इसकी रचना आठवीं शताब्दी में माघ कवि ने श्रीमाल नगर में की। संस्कृत महाकाव्यों में 'शिशुपालवध' महाकाव्य का अन्यतम स्थान है।

इस तरह आठवीं शताब्दी से राजस्थान के साहित्य की परम्परा नियमित रूप से आगे बढ़ती है। प्राकृत और संस्कृत इन दोनों भाषाओं में बहुत से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे गये। ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच कई महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश काव्य भी राजस्थान में लिखे गये। तेरहवीं शताब्दी से राजस्थानी भाषा का साहित्य भी मिलने लगता है। पन्द्रहवीं शताब्दी तक के राजस्थानी भाषा के साहित्य पर अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट है।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध महाकाव्य महाकवि चन्द रचित 'पृथ्वीराज रासो' की अभी तक सत्रहवीं शताब्दी के पहले की लिखी हुई कोई प्रति नहीं मिली, पर सोलहवीं शताब्दी में लिखी हुई जैन-प्रबन्धों वाली संग्रह प्रति में रासो के कुछ पद्य उद्धृत मिलते हैं जिससे उसकी मूल भाषा अपभ्रंश जैसी रही होगी, सिद्ध होता है। मुनि जिनविजयजी सम्पादित 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' में पृथ्वीराज रासो के तीन पद्य इस रूप में मिले हैं :

(१) इक्कु वाणु पहुवीसु जु पइं कइंबासह मुक्कओ,
उर भितरि खडहडिउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ।
बीअं करि संधीउं भंमइ सूमेसरनंदण !
एहु सु गडि दाहिमओ खणइ खुद्दइ सइंभरिवणु।
फुड छडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह।
नं जाणउं 'चंदवलद्दिउ' कि न वि छुट्टइ इह फलह॥

(२) अगहु म गहि दाहिमओ रिपुरायखयंकरु,
कूडु मंत्रु मन ठवओ एहु जवूय (प ?) मिलि जग्गरु।
सह नामा सिक्खवउं जइ सिक्खिविउं बुज्झइं।
जंपइ चंदवलिद्दु मज्झ परमक्खर सुज्झइ।
पहु पहुविराय सइंभरिघणी संयभरि सउणइ संभरिसि,
कइंबास विआस विसट्टविणु मच्छिबंधिबद्धओ मरिसि॥

(३) त्रिण्हि लक्ष तुषार सबल पाषरीअइ जसु हय,
चऊदसय मयमत्त दंति गज्जंति महामय।
वीसलक्ख पायक्क सफर फारक्क धणुद्धर,
ल्हूसडु अरु बलु यान संख कु जाणइ तांह पर।
छत्तीसलक्ख नराहिवइ विहिविनडिओ हो किम भयउ,
जइचंद न जाणउ जल्हुकइ गयउ कि मूउ कि घरि गयउ॥

उपरोक्त पद्यों की भाषा में हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा के विकास के सूत्र खोजे जा सकते हैं। इस रासो से स्पष्ट है कि तेरहवीं शताब्दी से हिन्दी साहित्य का निर्माण भी राजस्थान में होने लगा था। अतः राजस्थानी और हिन्दी दोनों के विकास का समय एक ही माना जा सकता है क्योंकि दोनों की जननी अपभ्रंश है। अतः एक ही भाषा से उद्भूत होने के कारण उस समय की हिन्दी और राजस्थानी में अधिक अन्तर नहीं होना स्वाभाविक ही है।

तत्कालीन राजस्थानी भाषा केवल राजस्थान तक ही सीमित नहीं थी, वह मालव, गुजरात आदि लम्बे प्रदेश में बोली जाती थी इसीलिये प्राचीन राजस्थानी को गुजरातवाले प्राचीन गुजराती कहते हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी तक की रचनाओं को गुजरातवाले गुजराती की मानते हैं और राजस्थान वाले राजस्थानी की। यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जिस प्रकार राजस्थान अनेक टुकड़ों में बँटा हुआ था और उन भू-भागों के अलग-अलग नाम थे, उसी तरह गुजरात भी कई प्रदेशों में बँटा हुआ था और उनके लाट आदि अलग-अलग नाम थे। 'गुजरात' नाम तो बहुत पीछे से प्रसिद्ध हुआ। पहले 'गुर्जरत्रा' प्रदेश राजस्थान के ही एक भाग का नाम था, इसीलिये राजस्थान के डीडवाने और श्रीमालपुर आदि के शिलालेखों में इस प्रदेश का नाम 'गुर्जरत्रा' प्राप्त होता है। उसके बाद आबू से आगे का प्रदेश गुजरात के नाम से प्रसिद्ध हो गया और राजस्थान का गुर्जरत्रा वाला भाग मारवाड़ में सम्मिलित हो गया।

भारतीय स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद आबू को लेकर यह विवाद खड़ा हुआ कि वह राजस्थान का अंग है या गुजरात का? सरदार पटेल ने अपने प्रभाव से आबू को गुजरात में सम्मिलित कर दिया था पर राजस्थान सरकार ने इसका विरोध करते हुए प्राचीन प्रमाणों और अनेक तथ्यों के आधार से आबू को राजस्थान का अंग प्रमाणित किया। फलतः आबू अब राजस्थान में सम्मिलित कर दिया गया है।

राजस्थान व गुजरात मिले-जुले प्रान्त हैं और जैन मुनि तो दोनों प्रदेशों में समान रूप से धर्म-प्रचार करते रहे हैं, इसीलिए उनकी रचनाओं में गुजराती प्रभावित राजस्थानी भाषा का प्रयोग अधिक हुआ है। एक ही कवि जब राजस्थान में अधिक रहा तो उसकी रचनाओं की भाषा राजस्थानी मिलती है और वही कवि आगे चलकर गुजरात में रहने लगा तो उसकी रचनाओं पर गुजराती का प्रभाव पड़ने लगा। उदाहरणार्थ कवि जिनहर्ष और देवचन्द्र के साहित्य को लिया जा सकता है। ये दोनों कवि राजस्थान में जन्मे और प्राथमिक जीवन राजस्थान में ही बिताया। अतः उस समय तक की रचनाएं राजस्थानी भाषा में हैं, फिर जीवन का उत्तरार्द्ध गुजरात में बिताया तो पिछली रचनाओं की भाषा गुजराती है।

सन्तों व चारणों की भाषा अलग-अलग रूप में रूढ़ हो गई। राजस्थान के सन्तों पर गोरखनाथ, कबीर आदि प्राचीन सन्तों की रचनाओं का प्रभाव रहा इसलिये उन्होंने हिन्दी, राजस्थानी मिश्रित भाषा में साहित्य-निर्माण किया। इसे 'सधुक्कड़ी भाषा' कहते हैं। राजस्थानी शब्दों का प्रयोग तो सन्तों ने प्रचुर रूप में किया है पर भाषा का

ढांचा हिन्दी का है। लोक-साहित्य की भाषा तो बोलचाल की राजस्थानी ही है।

चारण कवि राजस्थान में हजारों की संख्या में हो गए। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी से उनके फुटकर पद्य मिलने लगते हैं, जिनका उपयोग जैन विद्वानों के लिखे हुए प्रबन्धों में हुआ है। पन्द्रहवीं शताब्दी से चारणी साहित्य की धारा अच्छे रूप से चलने लगी। सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी के बीच तो बहुत बड़े साहित्य का निर्माण चारणों ने किया। चारणों के साहित्य की जो भाषा रूढ़ हो गई थी, आगे चलकर 'डिंगल' के नाम से प्रसिद्ध हुई। डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों ने बहुत से अनुमान लगाए हैं। जैन-कवि कुशललाभ के 'पिंगल-शिरोमणि' नामक राजस्थानी के प्रथम छन्द-शास्त्र में डिंगल की जगह 'डगल' शब्द प्रयुक्त हुआ है। डिंगल के अनुकरण में हिन्दी का नाम राजस्थान में पिंगल प्रसिद्ध हो गया। चारणों की भाषा डिंगल और भाटों की भाषा पिंगल, इस प्रकार का उल्लेख कवि उदयराम के 'कवि कुलबोध' ग्रन्थ में डिंगल-पिंगल प्रश्नोत्तरी के अन्तर्गत पाया जाता है।

डॉ० मोतीलाल मेनारिया के अनुसार तो राजस्थान में राजस्थानी व डिंगल की अपेक्षा पिंगल यानी ब्रज और हिन्दी भाषा में साहित्य-निर्माण अधिक हुआ है। उन्होंने 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' विषय पर शोध-प्रबन्ध लिखा है और वह छप भी चुका है।

चारणी साहित्य पर डॉ० मोहनलाल जिज्ञासु ने शोध-प्रबन्ध लिखा है पर वह अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया है।

राजस्थान के कई सन्त सम्प्रदायों और उनके साहित्य पर शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं। राजस्थानी साहित्य के विभिन्न कालों पर भी शोध-प्रबन्ध लिखे गये हैं। आदिकाल पर डॉ० हरीश ने शोध-प्रबन्ध लिखा है। कलकत्ता विश्वविद्यालय से ही डॉ० सुकुमारसेन के निर्देशन में डॉ० हीरालाल माहेश्वरी ने राजस्थानी साहित्य के प्रारम्भ के संवत् १६५० तक के साहित्य पर शोध-प्रबन्ध लिखा और वह प्रकाशित भी हो चुका है। डिंगल साहित्य पर भी डॉ० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव का शोध-प्रबन्ध इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ है।

राजस्थानी भाषा का गद्य साहित्य भी बहुत ही समृद्ध है। इस विषय पर डॉ० अचल शर्मा का शोध-प्रबन्ध 'राजस्थानी गद्य का उद्भव और विकास' के नाम से सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर से प्रकाशित हो चुका है। जिस तरह राजस्थान में रचित हिन्दी-राजस्थानी के साहित्य सम्बन्धी कई शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं और लिखे जा रहे हैं उसी तरह जयपुर और बीकानेर के संस्कृत साहित्य पर भी दो व्यक्तियों ने शोध-प्रबन्ध लिखे हैं, पर अभी इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कार्य होना शेष है। आशा है और भी बहुत से शोध-प्रबन्ध लिखे जाएंगे और तभी राजस्थान के साहित्य की परम्परा का ठीक से परिचय मिल सकेगा।

राजस्थान अपनी वीरता के लिए बहुत ही प्रसिद्ध है। राजस्थानी भाषा के साहित्य की प्रमुख विशेषता वीर रस की रचनाओं का प्राचुर्य है। छोटे-से-छोटे दोहा छन्द में वीर रस का जो चमत्कार राजस्थानी दोहों में मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

चारण कवियों ने इस जीवन्त और प्रेरणादायक साहित्य को निर्माण करके वीरों को वहुत प्रोत्साहित किया और इसी का परिणाम है कि हजारों वीरों ने अपने स्वदेश और स्वाभिमान की रक्षा के लिए प्राणों की बाजी लगा दी। यों तो वीरता की सब समय आवश्यकता रहती है पर वर्तमान में भारत को इसकी नितान्त आवश्यकता है। इसलिए राजस्थानी भाषा का वीर-रसात्मक साहित्य वहुत उपयोगी हो सकता है। डिंगल गीतों का तो प्रचार उतना नहीं रहा पर वीर-रस के दोहों का खूब प्रचार रहा है। गत शताब्दी में कई वीर सतसइयां रची गई हैं। यहां कुछ फुटकर दोहों को प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे राजस्थान व राजस्थानी भाषा के साहित्य में कितना ओज और बल है, यह स्वयं विदित हो जायेगा।

जननी ! जणेतो अहड़ा जण, कै दाता कै सूर।
ना तर रहजे वांझड़ी, मती गमाजे नूर ॥१॥

—हे माता ! पुत्र जनो तो ऐसा जनना जो या तो दाता हो या वीर। नहीं तो वन्ध्या ही रहना। निकम्मे पुत्र को जनकर अपने यौवन के तेज को मत गँवाना।

इला न देणी आपणी, रणखेता भिड़ जाय।
पूत सिखावै पालणै, मरण बड़ाई माय ॥२॥

—'अपनी भूमि किसी को न देना, उसके लिए रणभूमि में भिड़ जाना'—माता इस प्रकार पुत्र को भूले में सुलाते समय ही मरने की महिमा सिखाती है।

वेटा जाया कूण गुण, ओगण कूण धियांह।
ज्यां ऊभां घर आपणी, गंजीजै अवरांह ॥३॥

—ऐसे पुत्रों के जन्म लेने से क्या लाभ, और पुत्रियों के जन्म लेने से क्या हानि, जिन पुत्रों के खड़े रहते अपनी भूमि दूसरों द्वारा पददलित की जाती है।

सूधो रजवट परखणो, अै रजवट-अहनाण।
प्राण जठै रजवट नहीं, रजवट जठै न प्राण ॥४॥

—राजपूत का परखना सीधा-सादा (वहुत सरल) है। ये राजपूती के लक्षण हैं—जहां प्राणों का मोह है वहां राजपूती नहीं, राजपूती है वहां जहां प्राणों का मोह नहीं।

रजवट नह दीठी सखी ! दीठा घणा सुभट्ट।
सिर पड़ जावै, धड़ लड़ै, वा रूड़ी रजवट्ट ॥५॥

—हे सखी ! वहुत वीर देखे पर रजपूती दिखाई नहीं पड़ी। युद्ध में सिर गिर जाय और फिर भी धड़ लड़ता रहे—यही सच्ची राजपूती है।

नह हेली ! छत्र चम्मरां, नह वड़ नामां हूत।
जे मरही हित देस-रे, है वै ही रजपूत ॥६॥

—हे सखी ! राज-छत्र और चंवरों से कोई राजपूत नहीं होता और न बड़े नाम से कोई राजपूत होता है। जो देश के लिए मरते हैं वे ही राजपूत हैं।

रजपूतां गुण पूछती, देख सखी ! साबूत।
घर पड़िया घर कारणै, रज भेला रजपूत ॥७॥

—हे सखी ! तू राजपूतों के गुण पूछती थी। उन्हें अब पूरा-पूरा प्रत्यक्ष देख। अपनी भूमि के लिए राजपूत रज के साथ मिले हुए धराशायी हो रहे हैं (रज-धूल-वीरता)।

रण कर-कर रज-रज रंगै, रवि ढंकै रज-हूंत।
रज जेती धर ना दियै, रज-रज हुवै रजपूत ॥८॥

—रजपूत युद्ध कर-करके युद्धभूमि के एक-एक रज-कण को रुधिर से रंग देता है और सूर्य को रज से आच्छादित कर देता है। कटकर रज-रज (कण-कण) हो जाता है पर रज भर भी भूमि शत्रु के हाथ में नहीं जाने देता।

एकौ लाखां आंगमै, सींह कहीजै सोय।
सूरां जेथी रोड़ियै, कलहक तेथी होय ॥९॥

—जो अकेला ही लाखों से भिड़ता है वही सिंह कहा जाता है। शूरवीरों को जहां घेरा जाता है वहीं हलचल मच जाती है।

सूरा सोइ पिछाणियै, लड़ै धणी रै हेत।
पुरजा-पुरजा कट पड़ै, तोय न छांड़ै खेत ॥१०॥

—शूरवीर उसी को जानना चाहिए जो स्वामी के लिए लड़े और कट कर टुकड़े-टुकड़े हो जाय, फिर भी युद्धभूमि को न छोड़े।

क्रिपण जतन धन-रो करै, कायर जीव-जतन्न।
सूर जतन उण-रो करै, जिणरो खाधो अन्न ॥११॥

—कृपण धन की रक्षा के लिए यत्न करता है, कायर प्राणों की रक्षा के लिए, पर वीर उसकी रक्षा के लिए यत्न करता है जिसका अन्न उसने खाया है।

सूर न पूछै टीपणो, सुगन न देखै सूर।
मरणा-नूं मंगल गिणै, समर चढै मुख नूर ॥१२॥

—वीर न तो पंचांग (शुभाशुभ मुहूर्त) पूछते हैं और न शकुन देखते हैं। वे मरण को मंगल समझते हैं। युद्धभूमि में उनके मुख पर तेज चढ़ता है।

ढोल धसक्कै दल मिलै बज्जै सुहड़ डहक्क।
कायर कंपै, धड़ पड़ै, मरै त सूर निसंक ॥१३॥

—नगारे वज रहे हैं, फौजें भिड़ रही हैं, वीर प्रसन्न होकर लड़ रहे हैं, कायर कांप रहे हैं, और शूरवीर मर रहे हैं।

अै भग्गा पारक्कड़ा, तो अखि ! मुझ पिएण।
अै भग्गा आपां तणां, तो तिह जूझ पडेण ॥१४॥

—हे सखी ! यदि शत्रु भागे हैं तो समझ लो कि मेरे पति के कारण, और यदि अपने लोग भागे हैं तो समझ लो कि वह मारा जा चुका है (मेरे पति के जीते-जी भागें, यह सम्भव नहीं)।

नह पड़ोस कायर नरां, हेली ! वास सुहाय।
वलिहारी उण देसड़ै, माथा मोल विकाय ॥१५॥

—हे सखी ! कायर पुरुषों के पड़ोस में रहना अच्छा नहीं लगता। मैं उस देश पर वलिहारी हूं जहां सिर मोल विकते हैं। (जहां सिरों का लेन-देन होता है)।

नायण आज न मांड पग, काल सुणीजै जंग।
धारां लागै जो धणी, तो धण दीसै रंग ॥१६॥

—हे नाइन ! आज पैरों में मेहंदी मत लगा, कल युद्ध सुना जाता है। यदि मेरा पति तलवार की धार पर चढ़ जाय (तलवार से मारा जाय) तो फिर खूब मेहंदी रचाना।

सुत मरियो हित देस रै, हरख्यौ वंधु-समाज।
मा नह हरखी जलम दे, जितरी हरखी आज ॥१७॥

—वेटा देश के लिए मर गया, यह जानकर वन्धुजन हर्षित हुए। माता उसे जन्म देकर उतनी हर्षित नहीं हुई थी, जितनी हर्षित आज हुई।

जलम दिखायो जलम दिन, परण दिखायो आज।
वेटा ! हरख दिखावजे, मरण देस-रै काज ॥१८॥

—हे वेटा ! जन्म लेकर तुमने जन्मोत्सव का दिन दिखाया। विवाह करके आज विवाहोत्सव का दिन दिखाया। हे पुत्र, देश के लिए मरकर मरणोत्सव का दिन भी दिखाना।

हूं वलिहारी राणियां, जिण जाया रजपूत।
अण-हूंती हूंती करै, सै वातां-रा सूत ॥१९॥

—मैं उन क्षत्राणियों पर वलिहारी हूं, जिन्होंने ऐसे वीरों को जन्म दिया जो असम्भव को सम्भव करते हैं और सव वातों को सुधारते हैं।

मत सोचे जाणे मती, मोनूं वालक माय।
वैर पराया वावड़ै, जठै न घर-रा जाय ॥२०॥

—हे माता ! मुझे वालक जानकर मन में चिन्ता मत करना। जिस कुल में दूसरों के वैरों का वदला लिया जाता है उसमें भला घर के वैर का वदला क्या नहीं लिया जायगा ?

राजस्थानी साहित्य के सम्बन्ध में १८ फरवरी, १९३७ को राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता के आंगण में विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सभापति-पद से भाषण देते हुए कहा था :

"भक्ति रस का काव्य तो भारतवर्ष के प्रत्येक साहित्य में किसी न किसी कोटि का पाया ही जाता है। राधा-कृष्ण को लेकर हरेक प्रान्त ने साधारण या उच्चकोटि का साहित्य निर्मित किया है, लेकिन राजस्थान ने अपने रक्त से जो साहित्य-निर्माण किया है उसकी जोड़ का साहित्य और कहीं नहीं पाया जाता और उसका कारण है राजस्थानी कवियों ने कठिन सत्य के बीच में रहकर युद्ध के नगाड़ों के बीच अपनी कविताएं वनाई थीं। प्रकृति का ताण्डव रूप उनके सामने था। क्या आज कोई कवि अपनी भावुकता के वल पर फिर वह काव्य निर्माण कर सकता है ? राजस्थानी भाषा के साहित्य में जो एक प्रकार का भाव है—जो उद्वेग है—वह राजस्थान का खास अपना है, वह केवल राजस्थान के लिए ही नहीं, सारे भारतवर्ष के लिए गौरव की वस्तु है। राजस्थान का यह साहित्य कवियों के अन्तस्तल से निकला है। अतः यह प्रकृति के वहुत समीप है। मुझे क्षितिमोहन सेन महाशय से हिन्दी-काव्य का आभास मिला था, पर आज जो मैंने पाया है वह विलकुल नवीन वस्तु है। मुझे उसे आज तक सुनने का मौका नहीं मिला था, लेकिन आज मुझे साहित्य का एक नवीन मार्ग मिला है। मैं सुना करता था कि चारण कवि युद्ध के समय उत्तेजनावर्द्धक कविताएं सुना-सुनाकर लोगों को प्रोत्साहित करते रहते थे। पर आज मैंने उन कविताओं का रसास्वादन किया और मुझे इस साहित्य में वहुत जोर मालूम पड़ रहा है। इसका सम्पादन और प्रकाशन देश के लिए वहुत आवश्यक है।"

अन्त में राजस्थान के वयोवृद्ध कवि उदयराज उज्ज्वल के शब्दों में वर्णित साहित्य महिमा के पांच दोहों को सुनाते हुए अपना प्रथम भाषण समाप्त करता हूं—

सत अखंड संदेस, चारण अजल ऊचरै।
दीपै वां-रो देस, ज्यांरो साहित जगमगै ॥१॥
साहित ब्रह्म-सरूप, समपै प्राण समाज नैं।
रमै समै-अनुरूप, अंग पलटतो ऊजला ॥२॥
साहितरो संचार, आणै ऊंची आतमा।
आतम वल आधार, संकट मिटै समाज रा ॥३॥
जद जद किणी समाज में, आवै पतन अथाग।
वीती संपति वावड़ै, इण साहित अनुराग ॥४॥
साहित विना समाज मैं, साहस रहै न सत्त।
सत साहस विन सर्वदा, जीवण दुखी जगत्त ॥५॥

३

राजस्थान में रचित संस्कृत-प्राकृत साहित्य

भारतीय भाषाओं में सबसे प्राचीन संस्कृत और प्राकृत भाषाएं हैं। विद्वानों में इस विषय पर मतभेद है कि इन दोनों में से प्राचीन कौन-सी है? जहां तक उपलब्ध साहित्य का प्रश्न है, वेद ही सबसे प्राचीन ग्रन्थ है इसलिए संस्कृत की प्राचीनता तो स्पष्ट है पर प्राकृत शब्द पर जब विचार करते हैं तो मालूम होता है कि जनसाधारण की भाषा तो प्राकृत ही रही होगी, उसके रूप में चाहे परिवर्तन कितना ही होता रहा हो। संस्कृत शब्द संस्कार का सूचक है इसलिए प्राकृत को संस्कारित कर शिक्षित व्यक्तियों ने साहित्य-निर्माण का माध्यम बनाया होगा। कहने का आशय यही है कि दोनों भाषाएं प्राचीनकाल से समान रूप से चलती आयी हैं।

भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुसार पूर्वकाल में ज्ञान का प्रचार मौखिक रूप से ही होता रहा है। प्राकृत भाषा की रचनाएं विशेषतः जैनों और बौद्धों की हैं। महावीर और बुद्ध समकालीन महापुरुष थे और प्रायः बिहार प्रदेश के आस-पास में दोनों धर्म-प्रचार करते रहे। इसलिए उनकी भाषा में विशेष अन्तर नहीं होना चाहिए। पर वर्तमान में जो पाली और प्राकृत साहित्य उपलब्ध है उसमें भाषा का काफी अन्तर है। राजस्थान में पाली भाषा में बौद्ध साहित्य रचा गया हो इसका कोई उल्लेख जानने में नहीं आया। यद्यपि बौद्ध-धर्म का प्रचार राजस्थान में भी कहीं-कहीं रहा है, यह पुरातत्त्व की सामग्री से ज्ञात होता है।

जैन-धर्म का राजस्थान में प्राचीनकाल से प्रचार रहा है। पर प्राचीन जैन-ग्रन्थों में वे ग्रन्थ कब एवं कहां रचे गए, स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। स्थान के उल्लेख वाले सर्वप्रथम ग्रन्थ धूर्ताख्यान की रचना प्राकृत भाषा में जैनाचार्य हरिभद्रसूरि ने चित्तौड़ में हुई लिखी है, अतः निश्चित रूप से आठवीं शताब्दी में प्राकृत साहित्य राजस्थान में रचा जाता था, प्रमाणित है। जैन विद्वानों ने प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओं में समान रूप से रचनाएं की हैं। आचार्य हरिभद्र की रचनाएं भी दोनों भाषाओं की मिलती हैं।

संस्कृत साहित्य राजस्थान में प्रचुर रचा गया है पर प्राचीन रचनाओं में समय और स्थान का उल्लेख न होने से सर्वप्रथम रचना कौन-सी है, नहीं कहा जा सकता। ब्राह्मण विद्वानों ने संस्कृत में काफी लिखा है पर जैन संस्कृत साहित्य भी कम नहीं है। वैसे समय और स्थान की सूचना देने वाले संस्कृत ग्रन्थ जैनों के ही अधिक मिलते हैं। ब्राह्मण विद्वानों की रचनाओं में निश्चित समय वाले शिशुपाल-वध महाकाव्य को माघ कवि ने

कथा : समराइच्च कहा। इसे डॉ० हरमन जैकोबी ने सम्पादित करके एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता से प्रकाशित करवाया था। पटदर्शन-समुच्चय की एक सटीक आवृत्ति भी सोसाइटी से निकली है।

आचार्य हरिभद्र जैसे समर्थ विद्वान पर राजस्थान को सचमुच ही गर्व है। उनके ग्रन्थों का व्यापक प्रचार और अध्ययन, अध्यापन अपेक्षित है। हिन्दी, बंगला, गुजराती आदि भाषाओं में उनके उपयोगी ग्रन्थों का अनुवाद भी छपना चाहिए। कुछ ग्रन्थों के तो हिन्दी, गुजराती अनुवाद छपे भी हैं। पंडित सुखलालजी ने हरिभद्र के सम्बन्ध में 'समदर्शी हरिभद्र' के नाम से महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिए थे जो इसी नाम के ग्रन्थ में छप चुके हैं। प्रो० हीरालाल कापड़िया ने गुजराती में हरिभद्रसूरि सम्बन्धी एक ग्रन्थ लिखा है जो सयाजीराव ग्रन्थमाला, बड़ौदा से छप चुका है।

हरिभद्र के बाद की उल्लेखनीय रचना कुवलयमाला है जो सं० ३५ में जालौर में रची गई।

पूर्वोल्लिखित 'उपमितिभव प्रपंचा कथा' का सम्पादन भी डॉ० हरमन जैकोबी ने सर्वप्रथम किया था और वह संस्करण रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल से प्रकाशित हुआ था। सोलह हजार श्लोकों का यह रूपक ग्रन्थ सारे भारतीय साहित्य में अपने ढंग का एक ही और सबसे बड़ा ग्रन्थ है।

जैन साहित्य के महान् विद्वान पं० नाथूराम 'प्रेमी' ने इसके हिन्दी अनुवाद के प्रथम भाग की प्रस्तावना में लिखा है : "जैनियों का साहित्य-सागर बहुत विस्तृत और गम्भीर है। ज्यों-ज्यों अवगाहन किया जाता है त्यों-त्यों उसमें से ऐसे अपूर्व ग्रन्थ-रत्न हाथ लगते हैं जिनके विषय में पहले कभी किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। यह 'उपमितिभव प्रपंचा कथा' नामक ग्रन्थ उन्हीं रत्नों मे से एक सर्वोपरि रत्न है। और का चाहे जो मत हो, परन्तु मैं तो इस ग्रन्थ पर यहां तक मुग्ध हूं कि संस्कृत साहित्य में और शायद अन्य किसी भाषा के साहित्य में भी इसकी जोड़ का दूसरा ग्रन्थ नहीं समझता हूं। मुझे पूर्ण आशा है कि जो सज्जन इस ग्रन्थ का भावपूर्वक आदि से अन्त तक एक बार अध्ययन करेंगे उनका भी मेरे ही समान मत हुए बिना नहीं रहेगा। इस अभूतपूर्व शैली का, इस हृदयद्रावक रचना-प्रणाली का यह एक ही ग्रन्थ है। कठिन-से-कठिन और रूक्ष विषय को सरल-से-सरल और सरस बनाने का शायद ही कोई इससे अच्छा ढंग होगा।"

उपरोक्त 'उपमितिभव प्रपंचा कथा' का महत्त्व अनेक दृष्टियों से है। तत्कालीन सांस्कृतिक सामग्री का वह अखूट भण्डार है। डॉ० दशरथ शर्मा ने इसके सांस्कृतिक महत्त्व पर प्रकाश डालने वाले कुछ लेख लिखे जो 'मरुभारती' आदि में छपे हैं। वास्तव में जिस तरह डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'हर्षचरित्र', 'कादम्बरी' आदि का सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया है उसी तरह इस ग्रन्थ का भी स्वतन्त्र रूप से गम्भीर अध्ययन किया जाना अपेक्षित है। गुजराती में श्री मोतीचन्द गिरधर कापड़िया का एक उल्लेखनीय ग्रन्थ 'सिद्धर्षि' नाम से प्रकाशित हुआ है, उसमें इस ग्रन्थ के विविध प्रकार के महत्त्व को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है। सिद्धर्षि रचित 'श्रीचन्द्र केवली चरित्र', 'उपदेशमाला टीका' और 'न्यायावतार विवृत्ति' आदि अन्य रचनाएं भी प्राप्त हैं जिनसे

उनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है।

ग्यारहवीं शताब्दी में खरतरगच्छ के आदिपुरुष जिनेश्वरसूरि और उनके भ्राता बुद्धिसागरसूरि नामक दो बड़े विद्वान जैनाचार्य हुए। गुजरात और राजस्थान में ये समान रूप से धर्म-प्रचार करते रहे हैं। गुजरात में उन दिनों चैत्यवासी आचार्यों का इतना बड़ा प्रभाव था कि सुविहित साधुओं को वहां रहने के लिए व चातुर्मास करने के लिए उपाश्रय अर्थात् धर्म-साधना का स्थान मिलना भी कठिन हो गया था। आचार्य जिनेश्वर सूरि ने अपने गुरुश्री के पास गुजरात की राजधानी पाटण में जाकर तत्कालीन नरेश दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासियों से शास्त्रार्थ किया था और तब से सुविहित मुनियों-के निवासस्थान की दिक्कत दूर हुई। जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि मूलतः ब्राह्मण थे अतः वेद आदि ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन वे पहले ही कर चुके थे। जैन मुनि होने के बाद उन्होंने जैन-शास्त्रों का भी गम्भीर अध्ययन किया। श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अब तक कोई भी व्याकरण ग्रन्थ नहीं है, यह उन्हें बहुत ही अखरा और बुद्धिसागरसूरिजी ने 'पंच-ग्रन्थि वृत्ति नामक संस्कृत व्याकरण ग्रन्थ की रचना की। इसी तरह जिनेश्वरसूरिजी ने जैन न्याय-सम्बन्धी 'प्रमालक्ष्य स्वोपग्य वृत्ति' नामक ग्रन्थ बनाकर एक अभाव की पूर्ति की और भावी पीढ़ी के लिए मार्ग-प्रदर्शन किया। पंचग्रन्थि व्याकरण और जिनेश्वर की 'हरिभद्र अष्टक वृत्ति' ये दोनों रचनाएं संवत् १०८० में जालोर में पूर्ण हुईं। जिनेश्वर सूरिजी ने 'चैत्यवंदन विवरण' संवत् १०९६ में रचा और 'कथाकोष' नामक प्राकृत की तीस गाथाओं की अपनी रचना पर संस्कृत में विस्तृत टीका लिखी। मुनि जिनविजयजी ने इस 'कथा-कोश' को वृत्ति सहित सिंघी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित कर दिया है और उसकी विस्तृत प्रस्तावना में जिनेश्वरसूरि के व्यक्तित्व और कर्तृत्व के सम्बन्ध में विस्तृत प्रकाश डाला है। जिनेश्वरसूरिजी ने 'लीलावती' नामक एक सुन्दर कथा ग्रन्थ भी लिखा था पर अब वह अप्राप्य है। उसका संस्कृत में सार जिनरत्नसूरिजी ने लिखा था। उसी की एक ताडपत्रीय प्रति जैसलमेर ज्ञान-भण्डार में है।

जिनेश्वरसूरि के शिष्य धनेश्वरसूरि (जिनभद्र) ने आबू के निकटवर्ती चन्द्रावती नगरी (चड्डावली) में 'सुरसुन्दरी कथा' नामक प्राकृत भाषा का एक सुललित काव्य बनाया जो मूल रूप में एवं उसका गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

जिनेश्वरसूरि के पट्टधर जिनचन्द्रसूरि ने 'संवेग-रंगशाला' नामक प्राकृत भाषा का एक महत्त्वपूर्ण वृहद् ग्रन्थ बनाया। जिनचन्द्रसूरि के गुरुभ्राता नवांगी वृत्ति-कार अभयदेवसूरि तो बहुत ही प्रसिद्ध विद्वान हैं। उनके शिष्य व पट्टधर जिनवल्लभसूरि राजस्थान की एक महान् विभूति थे। उनकी प्रशंसा करते हुए कई विद्वानों ने उन्हें कालिदास जैसा महाकवि बतलाया है। प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओं में उन्होंने बहुत-सी रचनाएं की हैं। नागोर के निकटवर्ती कूर्चपुर में, जो कुचेरा के नाम से विद्यमान है, चैत्यवासी आचार्य जिनेश्वरसूरि रहते थे। जिनवल्लभ पहले उन्हीं के पास दीक्षित हुए थे, फिर अभयदेवसूरि के पास आगमादि ग्रन्थों का अध्ययन किया। 'शृंगार शतक' इनकी प्रारम्भिक रचना प्रतीत होती है। शृंगार रस का जैनाचार्यों का बनाया हुआ यह एक ही संस्कृत-काव्य है। प्रश्नोत्तरषष्टी शतक, धर्म-शिक्षा, चित्रकूट प्रशस्ति,

संघपट्टक और कई स्तोत्र आपकी असाधारण काव्य-प्रतिभा के परिचायक हैं। प्राकृत भाषा में भी 'द्वादश कुलक', 'सूक्ष्मार्थ विचार सार', 'आगमिक वस्तु विचार सार', 'पिंड विशुद्धि', 'पौषध विधि प्रकरण', 'तीर्थंकर स्तुति', स्तोत्र आदि बहुत-सी रचनाएं की हैं। आपने एक ऐसा स्तोत्र भी बनाया है जो प्राकृत और संस्कृत इन दोनों भाषाओं का कहा जा सकता है। इस भाषा-शैली को 'सम-संस्कृत' नाम दिया गया है। संवत् ११६७ में चित्तौड़ में इन्हें आचार्य पद मिला था। नागोर, चित्तौड़, विक्रमपुर, मरु कोट, धार आदि राजस्थान और मालव-प्रदेश में ही आपका अधिक विचरना हुआ।

ज्योतिषशास्त्र के भी ये बहुत अच्छे विद्वान थे पर इस विषय की उनकी कोई रचना प्राप्त नहीं है। अपने समय में इनकी विद्वत्ता की इतनी प्रसिद्धि थी कि दूर-दूर से इन्हें राजा लोग समस्याओं की पूर्ति करने भेजते थे। एक बार का प्रसंग है कि धारा-नरेश नरवर्म की राजसभा में एक विदेशी पंडित ने 'कण्ठे कुठार: कमठे ठकार:' यह समस्या-पद रखा। स्थानीय विद्वानों ने इस समस्या की पूर्ति की पर उससे उस विदेशी विद्वान को संतोष नहीं हुआ। तब वह समस्या जिनवल्लभसूरिजी को चित्तौड़ भेजी गई और उन्होंने जो पूर्ति की उससे सब विद्वान चमत्कृत हुए। जिनवल्लभसूरिजी के सम्बन्ध में श्री विनयसागरजी ने एक शोध-प्रबन्ध लिखकर 'महोपाध्याय' पद प्राप्त किया है। खेद है उनका वह शोध-प्रबन्ध अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया।

जिनवल्लभसूरि के भक्त श्रावक नागोर के सेठ धनदेव के पुत्र पद्मानन्द ने 'वैराग्य शतक' नामक संस्कृत काव्य बनाया, जो 'काव्यमाला' में प्रकाशित हो चुका है।

जिनवल्लभसूरिजी के पट्टधर जिनदत्तसूरि तो मरुस्थली के कल्पवृक्ष माने जाते हैं। उस जमाने में एक ओर उन्होंने चैत्यवास का प्रबल खंडन करके सुविहित मार्ग का डंका बजाया और अनेक चैत्यवासी इनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर इनके शिष्य हो गए। दूसरी ओर अपनी आध्यात्मिक और मंत्र-शक्ति के बल पर इन्होंने लक्षाधिक व्यक्तियों को नया जैन बनाया। इनके स्वर्गवास को ८१० वर्ष हो जाने पर भी इनकी पूजा-मान्यता दिनोंदिन बढ़ती ही रही है। श्वेताम्बर जैन समाज में यह 'दादा गुरु' या 'बड़े दादा साहब' के नाम से प्रसिद्ध हैं। राजस्थान में ही नहीं, भारत के कोने-कोने में इनके मन्दिर, मूर्तियां व चरण पादुकाएं स्थापित हैं। ये युग-प्रधान पुरुष माने जाते हैं। इनका जन्म गुजरात में हुआ था पर कार्यक्षेत्र राजस्थान ही रहा। चित्तौड़, नागोर, जैसलमेर के निकटवर्ती विक्रमपुर, अजमेर, त्रिभुवनगिरि आदि अनेक स्थानों में ये धर्म-प्रचार करते रहे हैं। प्राकृत, संस्कृत के साथ इन्होंने अपभ्रंश में भी रचनाएं की हैं। बड़ोदा ओरिएण्टल सीरीज से इनकी चर्चरी आदि तीन अपभ्रंश रचनाएँ 'अपभ्रंश काव्यत्रयी' के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं। प्राकृत रचनाओं में 'गणधर सार्ध शतक', 'सन्देह दोलावली' आदि उल्लेखनीय हैं। संवत् ११६७ में चित्तौड़ में इन्हें जिनवल्लभ सूरि के पट्ट पर स्थापित किया गया। संवत् १२११ में अजमेर में इनका स्वर्गवास हुआ। अजमेर के राजा अर्णोराज और त्रिभुवनगिरि के राजा कुमारपाल इनके भक्त थे। इनके सम्बन्ध में हमारा 'युग-प्रधान जिनदत्तसूरि' ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

जिनदत्तसूरिजी के समकालीन राजस्थान के विद्वान आचार्यों में वादिदेव सूरि

विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये नागोर में विशेष रहे हैं, इसलिए इनकी परम्परा 'नागपुरीय तपागच्छ' के नाम से प्रसिद्ध हुई। 'स्याद्वाद रत्नाकर' नामक इनका महान् ग्रन्थ, जैन न्याय शास्त्र का उल्लेखनीय ग्रन्थ है। इन्होंने गुजरात की राजधानी पाटण में जाकर कुमुदचन्द्र नामक दिगम्बर जैनाचार्य को शास्त्रार्थ में परास्त किया था। इसीलिए ये वादिदेवसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। उस शास्त्रार्थ का संक्षिप्त विवरण 'मुद्रित कुमुदचन्द्र' नामक नाटक में पाया जाता है। जैसलमेर वृहद् ज्ञान भण्डार की सचित्र काष्ट-पट्टिकाओं में इस शास्त्रार्थ का सचित्र दृश्य चित्रित है। इन पट्टिकाओं की चित्र-शैली और रंगों की ताजगी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन पट्टिकाओं को मुनि जिनविजयजी ने जैसलमेर से लाकर कलकत्ता के चुन्नीलाल नवलखा को दे दिया है।

ऐसी ही तीन सचित्र काष्ट-पट्टिकाएं उपरोक्त युग-प्रधान जिनदत्तसूरिजी सम्बन्धी जैसलमेर भण्डार में मिलती हैं। एक पट्टिका में उनके गुरु जिनवल्लभसूरि का भी चित्र है, दूसरी में जिनदत्तसूरिजी का। इस तरह की २-३ और पट्टिकाएं जिनदत्तसूरि सम्बन्धी मिली हैं जिनमें से एक में राजा कुमारपाल भी भक्ति करते हुए दिखाये गए हैं। दूसरी पट्टिका में उनके शिष्य-शिष्याएं आदि सम्मुख बैठे हुए दिखाये गए हैं। इनमें दो पट्टिकाओं का ब्लॉक हमारी 'जिनदत्तसूरि' पुस्तक में छप चुका है। ऐसी और एक सचित्र पट्टिका हमारे शंकरदान नाहटा कलाभवन में भी प्रदर्शित है। अपभ्रंश चित्रशैली की ये काष्ट-पट्टिकाएं मध्यकालीन चित्रकला के अध्ययन के लिए बहुत ही उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में सरस्वती में प्रकाशित लेख दृष्टव्य है।

जिनचन्द्रसूरि के पट्टधर जिनपतिसूरि तेरहवीं शताब्दी के महान् वादिविजेता विद्वान थे। कहा जाता है कि इन्होंने ३६ शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त की थी। संवत् १२३६ में अजमेर के अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान की राजसभा में इन्होंने पद्मप्रभाचार्य से शास्त्रार्थ किया था, उसका रोचक और विस्तृत विवरण खरतरगच्छ की वृहद गुर्वावली में इन्हीं के शिष्य जिनपालोपाध्याय ने लिखा है। भारतीय ऐतिहासिक ग्रन्थों में यह गुर्वावली ही सबसे पहला ऐसा ग्रन्थ है जिसमें तिथि और स्थान के विवरण सहित सिलसिलेवार खरतरगच्छ के आचार्यों का विवरण लिखा गया है। इसकी एक मात्र प्रति बीकानेर के क्षमा-कल्याण भंडार में हमें प्राप्त हुई थी जिसमें संवत् १३९३ तक का ऐतिहासिक वृत्तान्त है। सिंघी जैन ग्रन्थमाला से यह गुर्वावली छप भी चुकी है।

उपरोक्त जिनपतिसूरि ने संघपट्टक एवं पंचलिंगी की विशद टीकाएं लिखी हैं और वे प्रकाशित भी हो चुकी हैं। इनके रचित कई संस्कृत स्तोत्र भी प्राप्त हैं।

संवत् १२१४ में जैसलमेर के निकटवर्ती विक्रमपुर में इनका जन्म हुआ था। ७ वर्ष की अल्पायु में ये दीक्षित हुए और १४ वर्ष की आयु में इन्होंने आचार्य पद प्राप्त किया। संवत् १२७७ में इनका स्वर्गवास हुआ। इनके कई शिष्य अच्छे विद्वान थे जिनमें से जिनपाल, सुमतिगणि, पूर्णभद्र और जिनेश्वरसूरि तो संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे। जिनपालोपाध्याय ने अनेक टीकाओं एवं गुर्वावली ग्रन्थ के अतिरिक्त 'सनत-कुमार महाकाव्य' भी लिखा है जिसकी संवत् १२७७ की लिखी हुई एकमात्र कागज की प्रति जैसलमेर भण्डार में है।

दूसरे शिष्य सुमतिगणि ने 'गणधर सार्धशतक' पर वृहद वृति बारह हजार श्लोक परिमित बनाई है। यद्यपि इसकी पूर्णाहुति मालवा प्रदेश में हुई है पर राजस्थान में भी इसकी रचना होती रही क्योंकि जिनपतिसूरि और उनके शिष्यों का विशेष विचरना राजस्थान में ही हुआ है।

तीसरे शिष्य पूर्णभद्र गणि ने संवत् १२८५ में जैसलमेर में 'धन्यशालिभद्र चरित्र' नामक संस्कृत काव्य बनाया जो प्रकाशित भी हो चुका है। इसके अतिरिक्त 'कृतपुण्य चरित्र', 'अतिमुक्तक चरित्र कथा' आदि काव्य भी आपके प्राप्त हैं।

जिनपतिसूरि के भक्त विद्वान श्रावक नेमिचन्द्र भंडारी मरुकोट के निवासी थे। उन्होंने 'षष्टि शतक' नामक प्राकृत ग्रन्थ बनाया है। इस पर श्वे०-दिग० दोनों की संस्कृत भाषा में टीकाएँ मिलती हैं। संवत् १२८७ में खरतरगच्छ के सर्वदेवसूरि ने 'स्वप्न सप्ततिका वृति' की रचना जैसलमेर में की।

बारहवीं शताब्दी के जैनाचार्य धर्मघोषसूरि का प्रभाव शाकम्भरी नरेश विग्रहराज पर बहुत अच्छे रूप में था। इनका रचित 'धर्म कल्पद्रुम' नामक प्राकृत ग्रन्थ संवत् ११८६ का प्राप्त है। संवत् १२१५ में चन्द्रगच्छीय विजयसिंहसूरि ने 'क्षेत्रसमास टीका' की रचना पाली में की।

चौदहवीं शताब्दी के कई खरतरगच्छीय विद्वानों ने संस्कृत महाकाव्य एवं टीकादि ग्रन्थ बनाए हैं। संवत् १३११ में लक्ष्मीतिलक ने 'प्रत्येकबुद्ध चरित्र' नामक महाकाव्य बनाया। संवत् १३१२ में बाहड़मेर में चन्द्रतिलक ने 'अभयकुमार चरित्र' नामक नौ हजार श्लोकों का महाकाव्य बनाया। अभयतिलक गणि ने आचार्य हेमचन्द्र के 'द्वयाश्रय' नामक संस्कृत महाकाव्य की टीका बनाई। इससे पूर्व संवत् १३०७ में पूर्ण कलश गणि ने प्राकृत 'द्वयाश्रय' की टीका बनाई। संवत् १३१७ में लक्ष्मीतिलक गणि ने अपने गुरु जिनेश्वरसूरि रचित 'श्रावक-धर्म-विधि' प्रकरण पर विस्तृत टीका जालोर में बनाई। जिनेश्वरसूरि के शिष्य विवेकसमुद्र गणि ने संवत् १३३४ में जैसलमेर में 'पुण्यसार कथा' की रचना की। इनका एक बड़ा काव्य 'नरवर्म चरित्र' इससे पूर्व संवत् १३२० में रचा जा चुका था।

चौदहवीं शती के उत्तरार्द्ध में दो प्रभावशाली विद्वान हो गए हैं जिनमें से जिनप्रभसूरि ने तो दिल्लीपति महमूद तुगलक को प्रभावित किया था। इनकी अनेक रचनाएं प्राप्त हैं। श्रेणिक चरित्र द्वयाश्रय आदि संस्कृत, विधिप्रपा व तीर्थकल्पादि प्राकृत ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके रचित सौ के लगभग श्लोक प्राप्त हैं।

दूसरे आचार्य श्रीजिनकुशलसूरि ने संवत् १३८३ में बाहड़मेर में चैत्यवन्दन कुलक पर विस्तृत संस्कृत टीका का निर्माण किया, यह जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार (सूरत) से प्रकाशित है। इन दोनों आचार्यों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र ग्रन्थ छप चुके हैं।

सं० १४०६ में जैसलमेर में खरतरगच्छीय जिनेश्वरसूरि (द्वितीय) की शिष्या गुणसमृद्धि महत्तरा ने प्राकृत भाषा में 'अंजना सुन्दरी चरित' नामक ग्रन्थ बनाया। प्राकृत भाषा में ग्रन्थ रचने वाली यह एक ही कवयित्री हुई है।

इसी समय के लगभग नयचन्द्रसूरि ने हमीर महाकाव्य का निर्माण भी सम्भवतः

राजस्थान में ही किया। पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भी अनेक जैन विद्वानों ने संस्कृत साहित्य की सेवा की है पर उनकी रचनाओं का रचनाकाल निश्चित नहीं होने से यहां उल्लेख नहीं किया जा रहा है। उत्तरार्द्ध की कतिपय रचनाएं इस प्रकार हैं—

(१) सं० १४९५ में चारित्ररत्न गणि ने चित्तौड़ में महावीर जिनालय का प्रशस्ति-काव्य बनाया। यह प्रशस्ति-काव्य रा० ए० सो० जर्नल पृ० ३३ नं ६३ सन् १९०८ में प्रकाशित हो चुका है।

(२) सं० १४९९ में इन्होंने 'दानप्रदीप' नामक काव्य चित्तौड़ में बनाया जिसमें १२ प्रकाश हैं एवं ६६७५ श्लोक परिमाण का है। यह ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुका है।

(३) सं० १४९७ में जयचन्द्रसूरि के शिष्य जिनहर्ष ने 'वस्तुपाल चरित्र' नामक ऐतिहासिकग्रन्थ बनाया। इन्होंने प्राकृत में 'रत्नशेखर कथा' भी चित्तौड़ में ही बनाई थी।

(४) सं० १४९५ में श्री कीर्त्तिरत्नसूरि ने १२ सर्ग वाला नेमिनाथ महाकाव्य बनाया। इनका जन्म महेवापुर में हुआ था और मारवाड़ में ही ये अधिक विचरे थे। इन्होंने यह काव्य यथासंभव राजस्थान में ही बनाया है।

(५) सं० १४७३ में उपाध्याय जयसागर ने जैसलमेर के पार्श्वनाथ जिनालय की प्रशस्ति का संशोधन व शान्तिनाथ जिनालय प्रशस्ति का निर्माण किया जो जैन लेख संग्रह, भाग ३ (जैसलमेर) में प्रकाशित है।

सोलहवीं शती के अनेक ग्रन्थों में रचना स्थान का निर्देश नहीं पाया जाता। सं० १५५३ वै० शु० १३ गुरुवार को जैसलमेर में खरतरगच्छीय पद्ममन्दिर ने ऋषि मण्डल वृत्ति का निर्माण किया, जो प्रकाशित हो चुकी है।

सं० १५८२ में श्री जिनहंससूरि ने बीकानेर में 'आचारांग दीपिका' का निर्माण किया था। खरतरगच्छीय भक्तिलाभ गणि नें सं० १५७१ में बीकानेर में 'लघुजातक टीका' बनाई।

सत्रहवीं शती भारत का क्रान्ति-युग या स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। इस शताब्दी में भारतीय साहित्य व कला की बड़ी उन्नति हुई है। इस समय जैनों में भी सैकड़ों विद्वान हुए जिनमें से राजस्थान में रचित संस्कृत साहित्य का परिचय कराना ही यहां अभीष्ट है।

सं० १६२४ में वालरताकापुरी में नयरंग ने 'परमहंस सम्बोध चरित' नामक रूपक ग्रन्थ की रचना की। आपने सं० १६२५ में वीरमपुर में 'विधिकन्दली' नामक ग्रन्थ प्राकृत में बनाया, जिस पर संस्कृत में स्वोपज्ञ टीका उपलब्ध है।

सं० १६४५ में महोपाध्याय पुण्यसागर ने जैसलमेर में जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका बनाई जो १३२७५ श्लोक परिमाण की है। आपने सं० १६४० में प्रश्नोत्तर षष्टिशतक वृत्ति की रचना भी सम्भवतः राजस्थान में ही की थी।

आपके शिष्य पद्मराज ने सं० १६४४ में फलौधी में दण्डक वृत्ति, सं० १६५९ की विजयादशमी को जैसलमेर में भावारिवारण स्तव की चतुर्थ पादपूर्ति कर उस पर स्वोपज्ञ वृत्ति बनाई जिसे महोपाध्याय विनयसागरजी ने कोटा से प्रकाशित किया है।

सं० १६२१ में विजयादशमी को खरतरगच्छीय हीरकलश ने ज्योतिषसार नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्राकृत भाषा में नागौर में बनाया। इनकी राजस्थानी रचनाएं तो बहुत-सी प्राप्त हैं जिनमें से ज्योतिष विषयक 'हीरकलश' ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुका है।

खरतरगच्छ के अन्य उल्लेखनीय संस्कृत साहित्य-सेवी विद्वान निम्नोक्त हैं:

(१) उपाध्याय गुणविनय, (२) महाकवि समयसुन्दर, (३) सहजकीर्ति, (४) सूरचन्द्र, (५) ज्ञानविमल, (६) श्रीवल्लभ, (७) गुणरत्न।

इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) उपाध्याय गुणविनय—उपाध्याय जयसोम के शिष्य विद्वद् गुणविनय, इस शताब्दी के एक विशिष्ट विद्वान हैं। आपका परिचय मैंने 'नेमिदूत खण्डकाव्य' की प्रस्तावना में दिया है। यहां केवल राजस्थान में रचित आपके संस्कृत ग्रन्थों की सूची ही दी जा रही है—

(१) खण्ड प्रशस्ति वृत्ति सं० १६४१
(२) नेमिदूत काव्य वृत्ति सं० १६४४, बीकानेर
(३) नल दमयन्ती चम्पू वृत्ति सं० १६४६, सेरुणा
(४) रघुवंश वृत्ति सं १६४७, बीकानेर
(५) सम्बोध-सप्ततिका वृत्ति
(६) लघु शान्ति वृत्ति सं० १६५९, वेनातट

आपके रचित अन्य संस्कृत टीकाओं में कर्मचन्द्र वंश प्रबन्ध वृत्ति, इन्द्रिय पराजय शतक वृत्ति, लघु अजित-शान्ति वृत्ति, शीलोपदेशमाला वृत्ति, दशाश्रुत स्कन्ध वृत्ति, ऋषिमण्डल अवचूरि आदि हैं। आपने 'सव्वत्थ' शब्द के ११७ अर्थ किए हैं, जो 'अनेकार्थ रत्नमंजूषा' में प्रकाशित हैं। विचार-रत्नसंग्रह (हुण्डिका) नामक वृहद् ग्रन्थ का संकलन भी आपने सं० १६५७ में सेरुणा में किया था, जिसका परिमाण बारह हज़ार श्लोकों का है।

इसी समय के ज्ञानविमल और उनके शिष्य श्रीवल्लभ प्रकाण्ड विद्वान थे। ज्ञानविमल ने सं० १६५४ में बीकानेर में 'शब्द प्रभेद' नामक कोश की टीका बनाई एवं इसी वर्ष श्रीवल्लभ ने शीलोञ्छ नामक कोष की टीका। सं० १६५५ में उपकेश शब्द व्युत्पत्ति, सं० १६६१ में जोधपुर में लिंगानुशासन दुर्गपद प्रबोधवृत्ति एवं अभिधान नाममाला वृत्ति बनाई। व्याकरण विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों में चतुर्दशस्वर वादस्थल, सारस्वत प्रयोग निर्णय, व्याकरण कठिन शब्द वृत्ति एवं विशिष्ट काव्यों में विजयदेव महात्म्य, अरनाथ स्तुति एवं विद्वद् प्रबोध काव्य उल्लेखनीय हैं। इनमें से हैमलिंगानुशासन वृत्ति, विजयदेव-सूरि महात्म्य, अरनाथ स्तुति एवं विद्वद् प्रबोधादि ग्रन्थ प्रकाशित हैं।

सत्रहवीं शती के कवियों में महोपाध्याय एवं महाकवि समयसुन्दर का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। यद्यपि आपने अपनी काव्य-शक्ति लोकभाषा में रास, चौपाई व गीत आदि बनाने में अधिक लगाई क्योंकि आपका ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य विद्वत्ता-प्रदर्शन नहीं, पर जनता का उपकार करना था। आपका जन्म सं० १६२० के लगभग मारवाड़ के साचोर ग्राम में हुआ था। पोरवाड़ जाति के रूपसी साह की पत्नी रूपादे के आप पुत्र थे। आप

की प्रथम रचना 'भावशतक' नामक संस्कृत काव्य है जो सं० १६४१ में बनाया गया। सं० १६४६ में लाहोर में सम्राट् अकबर की राजसभा में आपने 'अष्टलक्षी' नामक ग्रन्थ रचना करके प्रस्तुत किया था जिससे सम्राट् एवं विद्वद् परिषद् के सभी लोग चमत्कृत हुए थे। वास्तव में अनेकार्थ साहित्य में यह ग्रन्थ अपने ढंग का एक ही है जिसमें 'राजानो ददते सौख्यम्'—इस आठ अक्षर वाले वाक्य के दस लाख से अधिक अर्थ किये गए हैं।

संवत् १६५० के लगभग रचित जिनसिंहसूरि पदोत्सव काव्य भी आपकी महान् प्रतिभा का परिचायक है जिसे 'रघुवंश' के तृतीय सर्ग की पादपूर्ति रूप में बनाया गया है। 'रघुवंश' के भावों को जिनसिंहसूरि के सम्बन्ध में घटाते हुए पादपूर्ति काव्य बनाना कितना कठिन कार्य है, यह काव्य-मर्मज्ञ विद्वानों से छिपा नहीं है। आपका विहार राजस्थान में ही अधिक रूप से हुआ, यद्यपि बीच में आप सिन्ध व गुजरात भी पधारे थे। शेष आयु में आप अहमदाबाद में जाकर रहे और वहीं ८० वर्ष से अधिक आयु में सं० १७०२ के चैत्र शुक्ला १३ को आपका स्वर्गवास हुआ। बीकानेर का खरतराचार्य गच्छ का उपाश्रय समयसुन्दरजी का उपाश्रय भी कहा जाता है। जैसलमेर में आपके नाम से स्वतन्त्र उपाश्रय है जिसमें आपकी चरण-पादुकाएँ भी विराजमान हैं। नाल दादाजी में भी एक स्तूप में आपके चरण स्थापित हैं। आपके द्वारा राजस्थान में रचित संस्कृत-ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

(१) चातुर्मासिक व्याख्यान पद्धति, सं० १६६४, अमरसर
(२) कालिकाचार्य कथा, सं० १६६६, वीरमपुर
(३) समाचारी शतक, स० १६७२, मेड़ता
(४) विशेष शतक, सं० १६७२, मेड़ता
(५) विचार शतक, स० १६७४, मेड़ता
(६) यत्याराधना, सं० १६८५, रिणी
(७) विशेष संग्रह, सं० १६८५, फाल्गुन
(८) दीक्षा प्रतिष्ठादिशुद्धि ज्योतिष, स० १६८५, लूणकरणसर
(९) विसंवाद शतक, सं० १६८५
(१०) कल्पसूत्र (कल्पलता) वृत्ति, सं० १६८५
(११) दुरियर स्तोत्र वृत्ति, स० १६८४, लूणकरणसर
(१२) रूपकमाला वृत्ति, स० १६६३, बीकानेर
(१३) वृत्तरत्नाकर वृत्ति, सं० १६९४ जालोर,
(१४) अष्टक त्रय, सं० १६८०, बीकानेर

आपके सम्बन्ध में हमने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में विस्तृत निबन्ध प्रकाशित किया था। 'समयसुन्दर कृति कुसुमान्जली' नामक ग्रन्थ में आपकी ५६३ लघु रचनाएं तथा विशिष्ट जीवन-परिचय भी हम प्रकाशित कर चुके हैं।

विनयसमुद्र के शिष्य गुणरत्न अच्छे विद्वान् थे। आपके रचित काव्य-प्रकाश की १०५०० श्लोक की टीका सं० १६१० में बनी थी। सं० १६४१ में सारस्वत क्रिया

चन्द्रिका, सं० १६४७ में जोधपुर में रचित रघुवंश वृत्ति एवं न्याय सिद्धान्त शशधर टिप्पण की अपूर्ण प्रति अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर में उपलब्ध है। नवकार के प्रथम पद के शताधिक अर्थ 'अनेकार्थरत्न मंजूषा' एवं 'मंत्रराज गुणकल्प महोदधि' में प्रकाशित हैं।

इसी प्रकार उपाध्याय सूरचन्द्र भी बहुत अच्छे कवि थे। सं० १६७६ की आश्विन शुक्ला १५ बुधवार को राजस्थानवर्ती अमरसर में रचित आपका जैन तत्त्वसार ग्रन्थ स्वोपज्ञ वृत्ति सहित प्रकाशित है। आपका रचित पंचतीर्थी श्लेपालंकार काव्य बड़ा ही कवित्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त अष्टार्थी काव्य वृत्ति, पंचवर्ग परिहार स्तव, अजित शान्ति स्तव आदि ग्रन्थ आपकी विद्वत्ता के परिचायक हैं। आ० श्री स्थूलिभद्र स्वामी के जीवन सम्बन्धी आपका 'गुणमाला महाकाव्य' विशेष रूप से उल्लेख योग्य है।

इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महोपाध्याय सहजकीर्ति भी अच्छे विद्वान हुए हैं। आपके सम्बन्ध में मेरा एक लेख 'जैन सिद्धान्त भास्कर' में प्रकाशित हो चुका है। यद्यपि आपने काव्य-रचना प्रधानतया लोकभाषा में की है, पर संस्कृत में भी आपके कुछ काव्य एवं टीकाएं उपलब्ध हैं। यथा—

(१) शतदलयन्त्र मय पार्श्व स्तव—सं० १६८३ की कार्तिक सुदी १५ को लोद्रवा में इसकी रचना हुई है। वहां पर यह चित्र-काव्य एक शिलाखण्ड पर खुदा हुआ है। स्वर्गीय बाबू पूरणचन्द्रजी नाहर ने इसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि 'ऐसा विशिष्ट काव्य अन्यत्र देखने में नहीं आया।' (२) महावीर स्तुति वृत्ति—सं० १६६८, (३) सारस्वत वृत्ति—सं० १६८१, (४) शब्दार्णव व्याकरण, (५) नामकोष-सिद्धशब्दार्णव (६) गौतम कुलकवृत्ति।

ठाँ० हंसप्रमोद ने सं० १६६२ में सारंगसारवृत्ति की रचना की जिसमें सारंग शब्दांकित एक श्लोक के २६६ अर्थ किये गए हैं।

आचार्य जिनराजसूरि की नैषधकाव्य वृत्ति एवं साधुसुन्दर के धातु-रत्नाकर व शब्द-रत्नाकरादि ग्रन्थ भी सम्भवतः राजस्थान में रचित विशिष्ट रचनाएं हैं। इनके व्याकरण व कोश विषयक ग्रन्थ बड़े महत्त्व के हैं।

महोपाध्याय समयसुन्दर के शिष्य हर्षनन्दन ने सं० १७०५ में बीकानेर में ऋषिमण्डल पर विस्तृत टीका बनाई। आपने सं० १७११ में यहीं उत्तराध्ययन वृत्ति की रचना की। आपकी अन्य रचनाओं में मध्याह्न व्याख्यान पद्धति, स्थानांग गाथागत वृत्ति भी उल्लेखनीय है।

सं० १६४६ में जैसलमेर में विजयराज के शिष्य पद्ममन्दिर ने गणधर सार्द्ध शतक पर वृत्ति का निर्माण किया जो कि जिनदत्तसूरि ग्रन्थमाला, सूरत से प्रकाशित है।

सं० १६६९ में अलवर में शिवचन्द्र ने विदग्ध मुखमण्डन वृत्ति बनाई।

विनयमेरु के शिष्य सुमतिविजय ने सं १६९९ में बीकानेर में १३००० श्लोक परिमाणवाली रघुवंश टीका एवं मेघदूत वृत्ति की रचना की।

इनके अतिरिक्त विमलकीर्ति रचित चन्द्रदूत, उदयकीर्ति रचित पद व्यवस्था टीका (सं० १६८१), ज्ञानप्रमोद रचित वाग्भट्टालंकार वृत्ति की रचना भी राजस्थान में हुई प्रतीत होती है।

अब सत्रहवीं शती के तपागच्छीय विद्वानों द्वारा राजस्थान में रचित संस्कृत ग्रन्थों का परिचय दिया जाता है।

सुप्रसिद्ध विजयप्रशस्ति नामक ऐतिहासिक काव्य पर गुणविजय ने सं० १६८८ में टीका बनाई जिसका कुछ अंश जोधपुर व श्रीमालनगर में रचा गया एवं सिरोही में उसकी समाप्ति हुई।

सं० १६५० में जालोर में राजकुशल ने सूक्ति द्वात्रिंशिका पर विवरण बनाया। सं० १६५२ में श्रीमालनगर में देवविजय ने जैन रामायण की रचना की। सं० १६५३ में कनककुशल ने सादड़ी में विशाललोचन स्तोत्रवृत्ति एवं सं० १६५५ में मेड़ता में सौभाग्य-पंचमीकथा आदि ग्रन्थों की रचना की।

सुप्रसिद्ध महोपाध्याय भानुचन्द्र ने सिरोही में वसन्तराज शकुन पर टीका बनाई। सं० १६६२ में मारवाड़ के पद्मावती-पतन में धनराज ने महादेवी-सारणी नामक ज्योतिष ग्रन्थ पर टीका बनाई।

नागपुरीय तपागच्छ के विद्वान हर्षकीर्तिसूरि ने व्याकरण, कोष, छंद, वैद्यक, ज्योतिष सम्बन्धी मौलिक ग्रन्थ एवं प्रकरणों व स्तोत्रों पर टीकाएं बनाईं। नागौर आपका प्रधान केन्द्र था। आपके रचित धातु पाठ स्वोपज्ञ वृत्ति, सिन्दूरप्रकर टीका, श्रुतबोध वृत्ति, सप्त स्मरण वृत्ति, योग चिन्तामणि, ज्योति सारोद्धार, विवाह पंडलादि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। आपके गुरु श्रीचन्द्रकीर्तिसूरि की सारस्वतदीपिका टीका प्रसिद्ध है।

सम्राट् अकबर द्वारा सम्मानित पद्मसुन्दर के रचित अकबरशाहि-शृंगार दर्पण, कोप, प्रमाण सुन्दर, हायन सुन्दर आदि कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्राप्त हैं। जोधपुर के राजा मालदेव पर इनका अच्छा प्रभाव था। हर्षकीर्ति व पद्मसुन्दर के सम्बन्ध में मेरे लेख 'अनेकान्त' में प्रकाशित हो चुके हैं।

अब अठारहवीं शती के कतिपय संस्कृत ग्रन्थों का विवरण दिया जाता है—

(१) खरतरगच्छीय जयरंग के शिष्य चारित्रनन्दन ने उत्तराध्ययन-दीपिका सं० १७२३ में बनाई।

(२) खरतरगच्छीय शान्तिहर्ष के शिष्य लाभवर्द्धन की लोकभाषा में रास, चौपाई आदि कई रचनाओं के साथ-साथ संस्कृत का 'छन्दोवतंश' नामक छन्द ग्रन्थ भी प्राप्त है।

(३) सं० १७३० में वेनातट (बिलाड़ा) में भावप्रमोद ने सप्तपदार्थी वृत्ति की रचना की।

(४) खरतरगच्छीय सदानन्द ने सं० १७९८ में सिद्धान्तचन्द्रिका पर सुन्दर व्याख्या की है जो प्रकाशित भी हो चुकी है।

(५) सं० १७३६ की विजयदशमी को उदयपुर में जिनवर्द्धमानसूरि ने सूक्ति मुक्तावली की रचना की।

इस शताब्दी के खरतरगच्छीय प्रसिद्ध विद्वानों में लक्ष्मीवल्लभ, धर्मवर्द्धन आदि विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं।

उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभ—ये लक्ष्मीकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने उत्तराध्ययन सूत्र

एवं कल्पसूत्र नामक जैनागमों पर टीकाएं व कुमारसम्भव वृत्ति के अतिरिक्त सं० १७४६ की माघ वदि १३ के रिणी में पंचकुमार कथा की रचना की। आपकी मातृकाक्षर धर्मोपदेश काव्य की स्वोपज्ञ वृत्ति सं० १७४५ में रचित उपलब्ध है। आपके सम्बन्ध में विशेष जानने के लिए 'राजस्थानी'—वर्ष १, अंक दो में प्रकाशित हमारा 'राजस्थानी भाषा के दो महाकवि' लेख देखना चाहिए। आपके शिष्य लक्ष्मीसेन की संस्कृत रचनाओं में कल्याणमन्दिर पादपूर्ति स्तव हमारे संग्रह में है।

दयातिलक के शिष्य दीपचन्द ने सं० १७९२ में जयपुर में 'लंघन पथ्य' निर्णय नामक वैद्यक ग्रन्थ बनाया।

कविवर धर्मवर्द्धन इस शताब्दी के नामांकित विद्वानों में हैं। आपके सं० १७३९ में रचित भक्तामर स्तोत्र की पादपूर्ति—वीरभक्तामर स्वोपज्ञ वृत्ति एवं अन्य कई स्तोत्रादि उपलब्ध हैं। आपके प्रशिष्य ज्ञानतिलक भी संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। इनके सिद्धान्त चन्द्रिका वृत्ति, विज्ञप्ति लेख काव्य और कई श्लोक उपलब्ध हैं। धर्मवर्द्धन का परिचय 'राजस्थानी'—वर्ष २, अंक २ में तथा सादूल राजस्थान रिसर्च इन्स्टीट्यूट के प्रकाशन 'धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली' में प्रकाशित किया जा चुका है।

सं० १७३१ की आश्विन शुक्ला ११ को बीकानेर में महाराजा अनूपसिंह की आज्ञा से उदयचन्द ने पांडित्य दर्पण नामक ग्रन्थ बनाया।

सं० १७३८ में जयतारण में मतिवर्द्धन ने गौतम पृच्छा वृत्ति बनाई।

महान सैद्धान्तिक व अध्यात्मवेत्ता श्रीमद् देवचन्द्रजी का जन्म बीकानेर के निकटवर्ती ग्राम में हुआ था। पर पूर्वावस्था में सिन्ध और फिर गुजरात में आपका अधिक विचरण हुआ, फलतः आपकी ज्ञानमंजरी टीका आदि ग्रन्थ गुजरात में रचित (प्रकाशित) हैं। आपके रचित प्राकृत व लोकभाषा के भी कई ग्रन्थ हैं।

इस शती के तपागच्छीय विद्वानों में उपाध्याय मेघविजय बड़े प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। आपके रचित नैषध, किरात, माघ व मेघदूत की पादपूर्ति में शांतिनाथ चरित्र, देवानन्द महाकाव्य, विज्ञप्ति (सं० १७२७ सादड़ी में रचित), किरात पादपूर्ति विज्ञप्ति लेख व मेघदूत समस्या लेख हैं। आपका विस्मयकारी काव्य सप्तसंधान महाकाव्य है, जिसमें राम व कृष्ण एवं पांच तीर्थंकरों का चरित्र साथ-साथ चलता है। धर्ममंजूषा नामक ग्रन्थ आपने मेड़ता में बनाया था। आपके अन्य ग्रन्थों में दिग्विजय महाकाव्य १३ सर्गों का ऐतिहासिक काव्य है। इसके अतिरिक्त लघु त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, भविष्यदत्त कथा, विजय देव—माहात्म्य-काव्य पर विवरण, युक्ति-प्रबोध, पंचाख्यान एवं व्याकरण के चन्द्रप्रभा, हेम शब्द चन्द्रिका, हेमशब्द प्रक्रिया और ज्योतिष के वर्ष-प्रबोध, रमल शास्त्र, हस्त संजीवन, उदय दीपिका, प्रश्न सुन्दरी, बीशायंत्र विधि एवं अध्यात्म के मातृका प्रासाद, ब्रह्मबोध, अर्हद्गीता आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। आपकी विद्वता असाधारण थी, जिसका विशेष परिचय 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित मेरे लेख में दिया गया है।

राजस्थान के तपागच्छीय अन्य विद्वानों में यशस्वतसागर भी न्याय एवं ज्योतिष के अच्छे विद्वान थे। इनके रचित दण्डक वृत्ति सं० १७२१, भाव सप्ततिका व न्याय

का जैन सप्तपदार्थी (रचना सं० १७४०) सं० १७५७ संग्रामपुर (सांगानेर) में महाराजा जयसिंह के समय में रचित प्रमाण-पदार्थ, रत्नाकरावतारिका में से वादार्थ-निरूपण, स्तवन रत्न, स्याद्वाद मुक्तावली और सं० १७६० में रचित गृहलाघववार्त्तिक एवं यशोराजी पद्धति नामक ज्योतिष ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनमें से जैन सप्तपदार्थी आदि प्रकाशित हैं। अवशिष्ट ग्रन्थों की प्रतियां उदयपुर के विवेकविजय भंडार में हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में संस्कृत साहित्य रचना की धारा मन्द पड़ गई। फिर भी कुछ कवि व टीकाकार हो गए हैं, उनका परिचय यहां दिया जा रहा है।

खरतर रामविजय ने सं० १८०७ में जोधपुर में गौतमीय काव्य नामक ग्रन्थ बनाया जो क्षमाकल्याण की टीका के साथ प्रकाशित हो गया है। आपके रचित गुणमाला प्रकरण (सं० १८१७), स्तुति पंचाशिका (सं० १८१४, माघ वदी ३, बीकानेर), सिद्धान्त चन्द्रिका वृत्ति पूर्वार्द्ध (६००० श्लोक परिमाण), साध्वाचार षट्त्रिंशिका विज्ञप्ति, द्वात्रिंशिका, ज्ञानपूजा आदि बीकानेर के भण्डारों में प्राप्त हैं।

आपसे शिक्षा प्राप्त उपाध्याय क्षमाकल्याण इसी शती के उल्लेखनीय विद्वान थे जिन्होंने अपने विद्यागुरु के गौतमीय काव्य पर टीका सं० १८५२ में जैसलमेर में पूर्ण की। आपने सं० १८३९ जैसलमेर में यशोधर चरित्र, सं० १८४७ में सूक्ति रत्नावली स्वोपज्ञ वृत्ति, सं० १८५० बीकानेर में जीवविचार वृत्ति, सं० १८५१ में जैसलमेर में प्रश्नोत्तर सार्द्ध शतक, सं० १८५९ में वहीं विज्ञानचन्द्रिका, सं० १८६० में बीकानेर में मेरुत्रयोदशी व्याख्यान, सं० १८६९ में विजयादशमी को बीकानेर में श्रीपाल चरित्र वृत्ति बनाई। सं० १८७३ में समरादित्य चरित के बनाते-बनाते बीकानेर में ही आप स्वर्गवासी हो गए। अतः वह ग्रन्थ अधूरा ही रह गया जिसकी पूर्ति सं० १८७४ में जयपुर में सुमति वर्द्धन ने की जो कि आपके विद्याशिष्य थे।

संवत् १८५९ में पाली में पुण्यशील ने चतुर्विंशति जिनस्तव की रचना की जिसे महो० विनयसागर जी ने प्रकाशित कर दिया है।

वाचक रामचन्द्र के शिष्य उमेदचन्द्र ने सं० १८८४ में जयपुर में प्रश्नोत्तर शतक ग्रन्थ बनाया। अजीमगंज में आपके रचित दीपावली व्याख्यान प्रसिद्ध है।

सं० १८७९ की कार्तिक सुदि १३ को जयपुर में प्रद्युम्नलीला-प्रकाश नामक ग्रन्थ उपाध्याय शिवचन्द्र ने बनाया जिसकी त्रुटित प्रति उपलब्ध है।

सं० १८६८ में जैसलमेर में जयकीर्ति ने श्रीपाल चरित्र बनाया। सं० १८४७ में बीकानेर में जीवराज ने मौन एकादशी कथा की रचना की एवं सं० १८९७ में श्रीजिन-हेमसूरि के शिष्य ने जयपुर में सिद्धान्त-रत्नावली का निर्माण किया।

सं० १८९९ में जयपुर में समयसुन्दर जी की वंश-परम्परा के विद्वान यति श्री कस्तूरचन्द्र ने ज्ञातासूत्र पर वृत्ति बनाई। बीसवीं शती में पं० जयदयालजी शर्मा ने बीकानेर में नन्दीसूत्र पर संस्कृत में वृत्ति और विस्तृत हिन्दी विवेचन किया।

बीसवीं शती में साहित्य-निर्माण हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा में ही अधिक होने लगा, फलतः संस्कृत की उल्लेख-योग्य कोई जैन रचना ज्ञात नहीं है। कई जैन मुनियों ने संस्कृत में टीका आदि ग्रन्थ बनाए हैं पर ये अधिकांश गुजरात में बने हैं।

जैन विद्वानों की संस्कृत रचनाएं केवल जैन-धर्म से सम्बन्धित नहीं हैं पर व्याकरण, छन्द, कोश, अलंकार, न्याय, योग, ज्योतिष, वैद्यक, नाटक, ऐतिहासिक काव्य, रूपक काव्य, पादपूर्त्ति काव्य, चित्रकाव्य, स्तोत्र तथा गद्य-पद्य अनेक विधाओं एवं विषयों की हैं। कई रचनाएं तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण और सर्व जनोपयोगी हैं।

जैन विद्वानों की भांति ब्राह्मण आदि जैनेतर विद्वानों ने भी संस्कृत में बहुत बड़ा साहित्य-निर्माण किया है। पर उनके सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से खोज नहीं हुई है। बीकानेर और जयपुर के संस्कृत विद्वानों और उनके साहित्य सम्बन्धी जो शोध-प्रबन्ध लिखे गए हैं वे भी प्रकाशित नहीं हो पाए। इसलिए यहां जैनेतर संस्कृत साहित्य का विशेष परिचय देना सम्भव नहीं। इस सम्बन्ध में मधुमती में प्र० लेख दृष्टव्य है।

राजस्थान के राजाओं ने संस्कृत साहित्य को बहुत प्रोत्साहन दिया। उनकी राज-सभाओं में अनेक विषयों के संस्कृतज्ञ विद्वान् रहा करते थे। उनको बहुत सम्मान दिया जाता था। जीविका उपार्जन के लिए गांवों आदि की जागीरें दी जाती थीं। विद्वानों को दिये गए भूमिदान सम्बन्धी ताम्रपत्र बहुत से पाए जाते हैं। कई विद्वानों के वंशजों को तो अभी तक उस दहन का लाभ मिलता रहा है।

विद्वानों के सत्संग से राजकुमारों को संस्कृत साहित्य का परिचय मिलता रहता था। उनकी शिक्षा संस्कृतज्ञ विद्वानों द्वारा कराई जाती थी। राजसभाओं में भी उपयुक्त वातावरण रहता, इससे कई राजा संस्कृत के स्वयं बड़े विद्वान और ग्रंथकार हो गए। संभव है उनके रचित कई ग्रन्थ आश्रित विद्वानों ने भी बनाए हों, पर जब तक मूल निर्माताओं का ठीक से पता नहीं चलता तब तक कौन-से ग्रन्थ उन्होंने स्वयं बनाए व कौन-से उनके नाम से अन्य विद्वानों ने, यह कहना सम्भव नहीं।

राजस्थान के संस्कृतज्ञ नरेशों में महाराणा कुम्भा बहुत ही उल्लेखनीय हैं। उनके आश्रित विद्वानों ने संस्कृत में बड़ी-बड़ी प्रशस्तियां आदि बनाई हैं। महाराणा के रचित संस्कृत ग्रन्थ भी बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। उनका संगीतराज महाग्रन्थ तो भारतीय संगीतशास्त्र का एक विशिष्ट ग्रन्थ है। यह पांच कोशों में विभाजित है—(१) पाठ्यरत्न कोश, (२) गीतरत्न कोश, (३) वाद्यरत्न कोश, (४) नृत्यरत्न कोश, (५) रसरत्न कोश। इस ग्रन्थ के महत्त्व के सम्बन्ध में डॉ० प्रेमलता शर्मा ने लिखा है कि 'षोडश सहस्र श्लोकों में रचित यह ग्रन्थराज, भरत के नाट्यशास्त्र से प्रायः ढाई गुना और संगीत रत्नाकर से प्राय: तिगुना होने के कारण अपने आकार में तो अद्वितीय है ही, साथ ही अधुना उपलब्ध साहित्य में से संगीतशास्त्र की प्राचीन परम्परा का अन्तिम और सर्वोत्तम प्रतिनिधि है।" इस ग्रन्थ का एक भाग डॉ० प्रेमलता सम्पादित, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित हो चुका है, दूसरा छप रहा है।

महाराणा कुम्भा-रचित 'गीत गोविन्द' की टीका भी बड़ी विशद एवं विद्वत्तापूर्ण है। निर्णयसागर प्रेस से यह प्रकाशित हो चुकी है। इनके अतिरिक्त हमारी खोज में चण्डी-शतक वृत्ति, कामराज एवं सूड़क्रम प्रबन्ध की प्रतियों का भी पता चला है। 'गीत गोविन्द' की मेवाड़ी भाषा में महाराणा के नाम से प्राप्त एक टीका का परिचय मैं शोध-पत्रिका में प्रकाशित कर चुका हूं। महाराणा कुम्भा के शिल्पी मण्डन ने वास्तु शास्त्र विषयक

कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बनाए हैं, जिनमें से कतिपय प्रकाशित भी हो चुके हैं। उदयपुर के महाराज के आश्रित कई संस्कृतज्ञ विद्वानों ने अनेक काव्यादि बनाए हैं।

बीकानेर के महाराजा रार्यासहजी ने संस्कृत कवियों एवं विद्वानों को प्रोत्साहन दिया, तदनन्तर अनूपसिंहजी का साहित्य-प्रेम बहुत ही उल्लेखनीय है। इनके नाम से रचित पचीसों संस्कृत ग्रन्थ प्राप्त हैं। इनके आश्रित विद्वानों ने कई विषयों के उल्लेखनीय ग्रन्थों की रचना की है। ओझाजी के 'बीकानेर राज्य का इतिहास' में महाराजा और उनके आश्रित विद्वानों के रचित ग्रन्थों की सूची प्रकाशित हो चुकी है। जयपुर महाराजा के आश्रय में संस्कृत भाषा के विविध विषयक बहुत-से ग्रन्थ रचे गए हैं।

बीकानेर, जयपुर, उदयपुर, जोधपुर आदि राज्यों के राजाओं ने संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी तीनों भाषाओं के विद्वानों एवं कवियों को अपनी सभाओं में समान रूप से आदर दिया। राजस्थान के नरेशों ने अपने विद्वानों का जितना सम्मान किया है उतना अन्यत्र कम ही हुआ होगा। कई विद्वानों और कवियों को उन्होंने गांव, जागीर, पट्टे-परवाने, लाखपसाव, करोड़पसाव दिए और अनेक उपाधियों से विभूषित किया। बाहर से विद्वानों को अपने यहां बुलाकर बसाया। विद्वानों और कवियों की संगति में रहकर कई राजा स्वयं बड़े कवि और विद्वान हो गए। उनकी रचित उपरोक्त तीनों भाषाओं की बहुत-सी रचनाएँ प्राप्त हैं। उनकी कई रानियां भी अच्छी कवयित्रियां हो गई हैं। राजस्थान के इन राजाओं, रानियों और कवियों के सम्बन्ध में ६० वर्ष पूर्व मुंशी देवीप्रसाद ने खोज की थी, उनका इस विषय का सर्वप्रथम ग्रन्थ 'राज रसनामृत' (पहला भाग) सन् १९०६ में भारत मित्र प्रेस, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। इसमें जैसलमेर, उदयपुर, जयपुर, बीकानेर, किशनगढ़ और बूंदी के ३० राजाओं की साहित्य-सेवा का विवरण दिया गया है। मुंशी देवीप्रसाद का दूसरा ग्रन्थ 'महिला मृदुवाणी' राजस्थान की १३ रानियों की जीवनी और उनकी रचनाओं पर प्रकाश डालता है।' 'राज रसनामृत' के पहले भाग में सूचित किया गया था कि अभी इसके और भी कई प्रवाह मात्र होंगे, पर खेद है वे प्रकाशित नहीं हो पाए। उनका तीसरा ग्रन्थ संवत् १९६८ में भारत मित्र प्रेस, कलकत्ता से 'कवि रत्नमाला' के नाम से प्रकाशित हुआ जिसमें अलवर, करौली, जयपुर, बूंदी, कोटा, झालावाड़ और जैसलमेर के ६५ कवियों का उनकी रचनाओं के उदाहरण सहित विवरण छपा है। 'कवि रत्नमाला' का भी दूसरा भाग प्रकाशित नहीं होने पाया।

प्राकृत, संस्कृत भाषा के कतिपय जैन ग्रन्थकारों एवं राजाओं की साहित्य-सेवा की कुछ झांकी ऊपर दी गई है। संस्कृत के जैनेतर विद्वान् अनेक हो गए हैं और उनमें कइयों ने तो अपने विषय में बहुत ख्याति प्राप्त की। पिछले कुछ वर्षों में जयपुर में कई महान् विद्वान् हो गए हैं और कुछ आज भी हैं। विद्वद्वर मधूसूदन जी और उनके शिष्य मोतीलालजी शर्मा की विद्वत्ता अगाध थी। वेद, गीता आदि ग्रन्थों पर उनकी व्याख्याएँ बहुत ही विशद हैं। मोतीलालजी शर्मा का तो अभी थोड़े वर्ष पहले ही स्वर्गवास हुआ है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे विद्वान् उनकी विद्वत्ता से प्रभावित थे और ग्रीष्मावकाश में उनके पास पहुंचते थे। जयपुर के श्री मथुरानाथजी भट्ट

आदि की संस्कृत साहित्य सेवा विशेष रूप से उल्लेखनीय है

बीकानेर के गोस्वामी समाज में कई संस्कृत के महान् विद्वान् हो गए हैं। शिवानन्द गोस्वामी, श्रीनिवास, जगन्निवास, जनार्दन गोस्वामी आदि ने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। इस सम्बन्ध में श्री फाल्गुनजी गोस्वामी से मैंने एक खोजपूर्ण विस्तृत निबन्ध बनवाया था जिसका कुछ अंश 'राजस्थान भारती', भाग ७, अंक ४, भाग ८, अंक ३-४ में छप चुका है। ब्राह्मण कवियों में हरिद्विज अच्छे कवि हो गए हैं जिनके साहित्य का विवरण प्रकाशित हो चुका है।

राजाओं के सम्बन्ध में कई ऐतिहासिक संस्कृत काव्य उनके आश्रित कवियों ने बनाए हैं जिनके अध्ययन से उन कवियों की काव्य-प्रतिभा और राजाओं के जीवन-चरित्र आदि की अच्छी जानकारी मिलती है। गद्य में भी विद्वानों की बहुत-सी टीकाएं और मौलिक ग्रन्थ संस्कृत में रचे हुए मिलते हैं। इस विषय में मुंशी देवीप्रसाद की तरह खोज की आवश्यकता है। बड़े-बड़े राज्यों में ही नहीं, छोटे-छोटे ठिकाणों में भी कई बड़े-बड़े विद्वान् हो गए हैं पर उनकी रचनाओं का प्रचार अधिक नहीं हो पाया, अतः जब तक उन राजाओं, जागीरदारों और कवियों के वंशजों आदि के पास जो अज्ञात साहित्य पड़ा हुआ है उसकी खोज नहीं की जायगी तब तक उनके मूल्यांकन का तो प्रश्न ही नहीं, जानकारी प्राप्त करना भी सम्भव नहीं है।

यहाँ के सेठ साहूकारों ने संस्कृत भाषा के कई स्थानों में संस्कृत विद्यालय खोलकर विद्वानों को तैयार किया। राजाओं ने भी अपने राज्यों में संस्कृत विद्यालय स्थापित किए। आज भी राजस्थान के कई विद्वान् संस्कृत साहित्य की महत्त्वपूर्ण सेवा कर रहे हैं।

४

अपभ्रंश और आदिकालीन राजस्थानी साहित्य

राजस्थान में रचित अपभ्रंश साहित्य : राजस्थान में रचित प्राकृत और अपभ्रंश का सारा साहित्य जैन विद्वानों और कवियों का निर्मित है। प्राकृत भाषा यद्यपि वहुत पहले से लोक-भाषा का स्थान छोड़ चुकी थी पर प्राचीन जैन साहित्य प्राकृत में होने से जैन विद्वानों ने प्राकृत को साहित्यिक भाषा के रूप में आज भी जीवित व चालू रखा है। आठवीं शताब्दी से लेकर अब तक कुछ-न-कुछ प्राकृत का साहित्य राजस्थान में रचा ही जाता रहा है। उस साहित्य के सम्बन्ध में अभी तक स्वतंत्र रूप से खोज नहीं की गई है अतः इसकी आवश्यकता बनी हुई ही है।

अपभ्रंश भाषा में सर्वाधिक साहित्य दिगम्बर कवियों का मिलता है। उनमें से कुछ कवि राजस्थान में भी हो गये हैं। यहाँ उनमें से पाँच-सात कवियों का उल्लेख कर दिया जाता है। संवत् १०४४ में कवि हरिसेण ने 'धम्म-परिक्खा' नामक अपभ्रंश ग्रन्थ अचलपुर में बनाया, उसकी प्रशस्ति के अनुसार वे मेवाड़-निवासी धक्कड़-वंशीय गोवर्द्धन की पत्नी गुणवती के पुत्र थे। चित्तौड़ को छोड़कर वे अचलपुर में आ वसे थे।

महाराजा भोज के सभा-कवि धनपाल ने राजस्थान के साचोर में स्थित महावीर जिनालय-सम्बन्धी एक रचना अपभ्रंश में की है। 'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' नामक रचना 'जैन साहित्य संशोधक' में प्रकाशित हो चुकी है। महमूद गजनी ने संवत् १०८१ में साचोर के महावीर जिनालय और मूर्ति को खंडित करने का प्रयत्न किया था पर वह सफल नहीं हो पाया था। इसका उल्लेख करते हुए कवि धनपाल ने इस रचना में लिखा है :

भंजेविणु सिरिमालदेसु अनु अणहिलवाडउं,
चड्डावल्लि सोरट्ठु भग्गु पुणु देउलवाडउं,
सोमेसरु सो तेहि भग्गु जणमणआणंदणु,
भग्गु न सिरि सच्चउरि वीरु सिद्धत्थह नंदणु ।।३ ।।
पुणवि कुहाडा हत्थि लेवि जिनवरतणु ताडिउ,
पच्छुत्थडवि कुहाडेहिं सो सिरि अंवाडिउ,
अज्जवि दीसहि अंगि घाय सोहिय तसु धीरह,
चलणजुयलु सच्चउरि–नयरि पणमहु तसु वीरह।। ७ ।।

बारहवीं शताब्दी के सिंह कवि ने 'पज्जुन्न कहा' नामक अपभ्रंश-काव्य की रचना बम्भणवाड़ में की जो सिरोही प्रदेश में है।

सुप्रसिद्ध धनपाल कृत 'भविष्यदत्त कथा' की रचना भी सम्भवतः राजस्थान में हुई है, क्योंकि कवि धक्कड़ वंश का था। यह वंश राजस्थान के श्रीउज्जपुर से निकला हुआ है।

संवत् १२९५ में लक्खण कवि ने 'जिनदत्त चरिउ' की रचना की। ये त्रिभुवन-गिरि के निवासी थे। त्रिभुवनगिरि जयपुर प्रदेश के अन्तर्गत, 'तहणगढ़' के नाम से प्रसिद्ध है।

छोटी-छोटी व्रत-कथाओं की रचना भी अपभ्रंश में हुई है। इनमें से कवि विनय-चन्द रचित 'चूनड़ी' आदि रचनाएँ उपरोक्त त्रिभुवनगिरि में रचित हैं। श्वेताम्बर कवियों की भी जन्माभिषेक कलश, स्तवन आदि कई विधाओं की रचनाएँ अपभ्रंश में प्राप्त हैं। राजस्थान के अनेक ग्राम-नगरों में इन रचनाओं का उस समय काफी प्रचार रहा है।

श्वेताम्बर मुनि गुजरात और राजस्थान में समानरूप से धर्म-प्रचार करते रहे हैं। उभय प्रान्त में रहते हुए उन कवियों ने अपभ्रंश में कई बड़े काव्य और अनेक फुटकर रचनाएँ बनाई हैं। 'नेमिनाह चरिउ' श्वेताम्बर अपभ्रंश रचनाओं में सबसे बड़ा ग्रन्थ है। 'विलासवई कहा' अपभ्रंश कथाओं में बहुत ही महत्त्व की है। इसकी ताड़पत्रीय प्रति जैसलमेर के ज्ञानभंडार में प्राप्त है। इन दोनों बड़ी रचनाओं का परिचय मैंने 'अने-कान्त' और 'त्रिपथगा' में प्रकाशित अपने लेखों में दे दिया है। उपदेशमाला टीका आदि कई ग्रन्थों में अपभ्रंश की छोटी-छोटी कथाएँ मिलती हैं, उनमें से अपभ्रंश सन्धि-काव्यों का विवरण मैं परिषद् पत्रिकादि में प्रकाशित कर चुका हूँ। श्वे० अपभ्रंश रचनाएँ विविध शैलियों की हैं और उनका परवर्ती राजस्थानी, गुजराती व हिन्दी साहित्य पर काफी प्रभाव रहा है। उनकी परम्परा अविच्छिन्न रूप से (राजस्थानी साहित्य में तो विशेष रूप से) चलती रही है।

जैनाचार्य जिनदत्तसूरिजी की तीन अपभ्रंश रचनाएँ 'अपभ्रंश काव्यत्रयी' के नाम से बड़ौदा से प्रकाशित हैं। इन पर संस्कृत टीकाएँ भी लिखी गई हैं। जिनदत्त-सूरिजी का धर्म-प्रचार क्षेत्र प्रमुखतः राजस्थान रहा है। चर्चरी, उपदेश-रसायन और काल-स्वरूप-कुलक इनकी अपभ्रंश रचनाओं के नाम हैं।

'बालावबोधप्रकरण' नामक एक रचना हमें प्राप्त हुई जिसे 'जीवदयाप्रकरण काव्यत्रयी' में हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किया जा चुका है। उसके कुछ प्रेरणा-दायक पद्य नीचे दिये जा रहे हैं :

> जुव्वणि भुंजउ विसय-सुहु, वुड्ढउ धम्मु करेसु।
> एहउं बाल पयंपियउ, मा चित्तेवि धरेसु॥ ३॥

यौवनकाल में विषयों के सुख को भोग लूँ, वृद्ध होने पर धर्म करूँगा—ऐसे बालजीवों (अज्ञानियों) के कथन को कभी चित्त में मत धारण करो।

जाव न पीड़इ देहु जर, जाव न वाहहिं वाहि।
जा इंदिय सुत्थत्तणउं, ता सद्धम्मु पसाहि ॥ ६ ॥

जब तक जरा देह को पीडित नहीं करती, जब तक व्याधियां उसे व्याधित नहीं करतीं और जब तक इन्द्रियों की स्वस्थता है, तब तक सद्धर्म का साधन कर लो।

थोवउ आउ सुतुच्छु सुहु, पय पय आवय-ठाण।
दुक्कड़-फलु अइ कड्डुयर, सधम्मु करेसु सुजाण ॥ ६ ॥

आयु थोड़ी है, सुख अत्यन्त तुच्छ है, पग-पग पर आपत्तियों के स्थान हैं। दुष्कर्मों का फल अत्यन्त कड़वा होता है। हे सुजान ! इसलिए धर्म करो।

घर-वावरि विमोहियहं, सयलु समप्पइ जम्मु।
खणुवि न पावहिं पावयर, जित्थु ए साहहि धम्मु ॥८॥

मुग्ध प्राणी गृह-व्यापार में सारा जन्म समर्पण कर देता है, पर उस पापी को एक भी ऐसा क्षण नहीं मिलता जिसमें वह धर्म की साधना कर सके।

राजस्थानी साहित्य : राजस्थानी भाषा अपभ्रंश की जेठी बेटी मानी जाती है, अतः कई शताब्दियों तक राजस्थानी रचनाओं पर अपभ्रंश का प्रभाव रहा और अपभ्रंश की परम्परा राजस्थानी साहित्य को सर्वाधिक रूप में प्राप्त हुई है। तेरहवीं शती में राजस्थानी साहित्य का स्वतंत्र विकास हुआ माना जाता है और तब से लेकर अब तक राजस्थानी साहित्य का निर्माण बराबर होता रहा है। ८०० वर्षों के इस विशाल साहित्य का परिचय थोड़े समय में देना कहाँ तक सम्भव है ? यह तो आपको बतलाने की आवश्यकता नहीं, फिर भी कुछ मुख्य बातें आपके सामने रखी जाएँगी जिससे उसके महत्त्व का कुछ परिचय मिल जायगा।

राजस्थानी साहित्य के रचयिता प्रधानतया जैन और चारण विद्वान् हैं। चारण कवि अधिकांश राज्याश्रित थे, अतः समय-समय पर राजाओं की प्रशंसा एवं अन्य विषयों पर वे फुटकर कविताएँ ही अधिक लिखा करते थे और वे फुटकर दोहे तथा कवित्तादि अधिकांश मौखिक रूप में ही प्रसिद्ध होते रहे हैं, अतः प्राचीन चारण कवियों की रचनाएँ जैन प्रबन्धों में उद्धृत पद्यों के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से लिखी हुई नहीं मिलतीं। पन्द्रहवीं शताब्दी से ही चारण कवियों की उल्लेखनीय स्वतंत्र रचनाएँ मिलने लगती हैं।

जैन मुनियों का जीवन बहुत ही संयमित होता है। भिक्षा के भोजन द्वारा वे अपनी क्षुधा-निवृत्ति करके प्रायः सारा समय स्वाध्याय, धर्म-प्रचार, ग्रन्थ-लेखन एवं साहित्य निर्माण आदि धार्मिक और सत्-कार्यों में लगाते रहे हैं। इसीलिए उनका साहित्य बहुत अधिक मिलता है। प्राचीन राजस्थानी साहित्य तो जैन कवियों की ही देन है। तेरहवीं शताब्दी से उनकी रचनाओं का प्रारम्भ होता है और अविच्छिन्न रूप में प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण में रची गई उनकी छोटी-बड़ी रचनाएँ आज भी प्राप्त हैं। प्रारम्भिक रचनाएँ तीर्थंकरों, जैन-महापुरुषों व आचार्यों के चरित्र तथा धर्म एवं नीति के उपदेश-

सम्बन्धी हैं। जनसाधारण में धर्म-प्रचार करने का उनका मुख्य उद्देश्य रहा है, इसलिए जिसे सभी लोग समझ सकें, ऐसी सरल भाषा और शैली में लिखी गई हैं। जनसाधारण उन्हें रुचिपूर्वक सुनें और याद करके लाभ उठाएँ, इसलिए प्रारम्भिक छोटे-छोटे बहुत-से रास, फागु, चर्चरी आदि तो गाये और खेले भी जाते थे। तालियों एवं डांडियों की लय एवं घूमर के साथ विशेष उत्सवों पर जैन मंदिरों आदि में वे रासादि खेले जाते थे, ऐसा उल्लेख कई रचनाओं के अन्त में कवियों ने स्वयं किया है। तथा—

रंगिइं रमइ जे रासु, श्री विजयसेण सूरि निमवीयउअे।
(संवत् १२८७ में विजयसेनसूरि रचित रैवंतगिरि रास)

एह विवाहलउ जे पढ़इं, जे दियहिं खेला खेलि रंग भरि।
(सं० १३३१ में सोममूर्ति रचित जिनेश्वरसूरि दीक्षा-वर्णन रास)

जिणहरि दित सुणंत, मनवंछिय पूरवउ
(संवत् १३६३ में प्रज्ञातिलकसूरि रचित कच्छुली रास)

एह रासु जो पढइ गुणइ, नाचिउ जिणहरि देइ
(सं० १३७१ में अंबदेवसूरि रचित समरारास)

खेला नाचइं चैत्र मासि, रंगिहिं गावेवउ
(जिनपद्मसूरि रचित स्थूलिभद्र फागु)

राससंज्ञक रचनाओं की परम्परा : राससंज्ञक रचनाएँ अपभ्रंश-काल से मिलने लगती हैं। संवत् ९६२ में सिद्धर्षि रचित 'उपमिति भव प्रपंचा कथा' में मंडलाबद्ध रास, रिपुदारण रास आदि प्राप्त हैं। जिनदत्तसूरि का 'उपदेश-रसायन-रास' और जैनेतर 'संदेस रासक' अपभ्रंश की राससंज्ञक प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इस रचना प्रकार या विधा को सबसे अधिक जैन कवियों ने ही अपनाया और विकसित किया। यद्यपि राससंज्ञक रचनाएँ आज भी रची व गाई जाती हैं पर प्राचीन रचनाओं की शैली से उनमें काफी अन्तर है।

छोटे-छोटे रास तो खेले जा सकते थे पर बड़े रास तो केवल गाये ही जा सकते हैं। तेरहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक की रास, फागु, विवाहला आदि रचनाएँ अधिकांश छोटी-छोटी हैं। यद्यपि कुछ रचनाएँ गाकर, पढ़कर या सुनकर भी प्रचारित की गई हैं, अर्थात् वे खेली नहीं गई।

राजस्थानी भाषा में जैन कवियों ने छोटी-बड़ी हजारों रचनाएँ बनाई हैं। वे विविध विधाओं की हैं। मैंने ऐसी शताधिक संज्ञाओं की सूची नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित अपने लेख में प्रकाशित की थी, और बहुत-सी उल्लेखनीय विधाओं के सम्बन्ध में तो मेरे स्वतन्त्र लेख भी प्रकाशित हो चुके हैं। संधि, फागु, विवाहला, धवल, वेलि, रेलुवा, पवाड़ा, सम्वाद, बारहमासा, द्वावैत, सिलोका, हियाली आदि रचना-प्रकारों के सम्बन्ध में मेरे स्वतन्त्र लेख प्रकाशित हो चुके हैं। इन लेखों का संग्रह 'प्राचीन काव्य रूपों की परम्परा' के नाम से भारतीय विद्या मंदिर शोध संस्थान, बीकानेर ने प्रकाशित

हो चुका है। जैन कवियों के रचित कतिपय रचना-प्रकारों की नामावली आगे दे दी जाती है। एक-एक रचना-प्रकार की अनेक रचनाएँ प्राप्त हैं। वेलि काव्यों के सम्बन्ध में डॉ० नरेन्द्र भनावत ने शोध-प्रबन्ध लिखा है। विवाहले और मंगल काव्य पर श्री पुरुषोत्तमलाल मेनारिया को डॉक्टरेट मिल चुका है। वेलि-सम्बन्धी शोध-ग्रन्थ तो छप भी चुका है। फागु और बावनी काव्यों पर शोध-प्रबन्ध लिखे जा रहे हैं। बारहमासा काव्य के सम्बन्ध में श्री महेन्द्र प्रचंडिया ने शोध-प्रबन्ध लिखा था। पवाड़ा काव्य पर भी शोध-कार्य हो रहा है।

इन रचना-प्रकारों को कई भागों में विभक्त किया जा सकता है, जैसे रचनाओं की पद्य-संख्या पर आधारित संज्ञाएँ—शतक, बहुतरी, बावनी, छत्तीसी, बत्तीसी, सत्तरी, इक्कीसी, इकत्तीसी, चोइसी, बीसी, अष्टक। चरित-काव्यों के लिए रास, चौपई, प्रबन्ध, सम्बन्ध, संधि, विवाहलो, धवल, चौढालिया, छढ़ालिया। तीर्थों-सम्बन्धी रचनाएँ—तीर्थमाला, चैत्य-परिपाटी। स्तवनों-सम्बन्धी रचनाएँ—स्तुति, स्तवन, स्तोत्र, गीत, गहूंली, बधावा। कई रचनाओं के नाम छन्दों पर भी आधारित हैं, जैसे दोहा, कुंडलिया, छप्पय, झूलना, निसाणी, अमृत ध्वनि।

अपभ्रंश भाषा से उत्तर भारत की कई प्रान्तीय भाषाओं का विकास तेरहवीं शताब्दी से माना जाता है। पर राजस्थानी-गुजराती को छोड़कर उन प्रान्तीय भाषाओं का तेरहवीं से पन्द्रहवीं शती तक का साहित्य बहुत ही कम मिलता है। जो थोड़ी-सी रचनाएँ इस समय की मानी जाती हैं वे भी प्रायः मूल रूप में सुरक्षित नहीं हैं। अतः उनका उपलब्ध पाठ प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। पीछे की लिखी हुई प्रतियाँ मिलने से उन रचनाओं की मूल भाषा में परिवर्तन होना सम्भव है ही। प्राचीन राजस्थानी साहित्य की यह एक प्रधान विशेषता है कि तेरहवीं से पन्द्रहवीं शती तक की विविध विधाओं की काफी रचनाएँ मिलती हैं और उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी प्राचीन प्राप्त होने से उनकी मूल भाषा भी काफी सुरक्षित रह सकी है। इससे प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण में भाषा में क्या परिवर्तन हुआ है और उस समय कौन-कौन-से रचना-प्रकार प्रचलित थे, इसकी अच्छी जानकारी मिल जाती है। इससे भाषा के विकास, रचना-प्रकार एवं विधाओं की परम्परा का अध्ययन काफी सुगम हो जाता है।

तेरहवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक राजस्थान, गुजरात की भाषा एक ही थी, इसलिए इस समय की रचनाओं को गुजरात के विद्वान् प्राचीन गुजराती, राजस्थान के विद्वान् प्राचीन राजस्थानी बतलाते हैं, यह स्वाभाविक ही है। तेरहवीं शताब्दी की प्राचीनतम रचना शालिभद्रसूरिकृत 'भरतेश्वर बाहुबल रास' मानी जाती है। हमें वज्रसेन-सूरि रचित भरतेश्वर बाहुबली घोर नामक ४५ पद्यों की एक रचना जैसलमेर भंडार से प्राप्त हुई। इसमें देवसूरि को स्मरण-नमस्कार करते हुए वज्रसेनसूरि ने यह रचना बनाई, लिखा है और वादिदेवसूरि बारहवीं शताब्दी के विशिष्ट विद्वान् हैं। इसलिए हमने इसका रचनाकाल सं० १२२५ के लगभग का अनुमान किया है। भगवान् ऋषभ-देव के पुत्र भरत और बाहुबली के युद्ध-वर्णन के चार पद्य यहाँ दिए जाते हैं :

कोवानल पज्जलिउ ताव, भरहेसरु जंपइ ।
रे रे दियहु पियाणा, ढाक जिमु महीयल कंपई ॥२०॥
गुलु गुलंत चालिया, हाथिन गिरिवर जंगम ।
हिंसा रवि जहि रियदियंत, हल्लिय तुरंगम ॥२१॥
घर डोलइ खलभलइ, सेनु दिणियरु छाइजइ ।
भरहेसरु चालियउ कटकि कसु उपमु दीजइ ॥२२॥
तं निसुणेविणु वाहुवलिण, सीवह गय गुड़िया ।
रिण रहसिंहि चउरंग दलिहिं वेउ पासा जुड़िया ॥२३॥

संवत् १२४१ में राजगच्छीय वज्रसेनसूरि के पट्टधर शालिभद्रसूरि ने भरतेश्वर वाहुवली रास की रचना की । रासो छन्द में रचे जाने का उल्लेख प्रारम्भ में ही है पर वस्तु, ठवणि, धवल, त्रूटक छंदादि के कुल २०३ पद्य हैं । इसमें उपर्युक्त 'घोर' की अपेक्षा भाषा भी सरल है । इस समय और इसके बाद की पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक की सभी राजस्थानी रचनाओं में पद्य-संख्या की दृष्टि से भी यह सबसे बड़ी रचना है । मुनि जिनविजयजी और पंडित लालचन्द भगवानदास गांधी (गुजराती छाया) के सम्पादित दो संस्करण इस रास के प्रकाशित हो चुके हैं । इसके युद्ध-वर्णन के कुछ पद्य यहाँ दिए जा रहे हैं :

तउ कोपिहिं कलकलीउ काल के···वय कालानल,
कंकोरइ[1] कोरंवीयउ, करमाल महावल ।
काहल कलयलि कलगलंत, मउड़ाधा मिलिया,
कलह तणइ कारणि कराल, कोपिहिं परजलीया ॥१२०॥
हऊउ कोलाहल गहगहाटि, गयणंगणि गज्जिय,
संचरिया सामंत सुहड़, सामहणीय सज्जिय ।
गडयडत गय गडीय गेलि, गिरिवर सिर ढालइ,
गूगलीया गुलणइ चलत, करिय उलालइं ॥१२१॥
जुड़इ भिड़इ भड़हड़इ खेदि, खडखडइ खडाखडि,
घाणीय धूणीय घोसवइं, दंतूसलि दोत (तड़ा) डि ।
खुरतलि खोणि खणति खेदि तेजीय तरवरिया,
समइं घसइं धसमसइं, सादि पयसइं पाखरिया ॥१२२॥
कधग्गल केकाण, कवी करडइं कडीयालीं,
रणणइं रवि रण वखर, सखर घण घाघरीयाला ।
सींचाणा वरि सरइं, फिरइं सेलइं फोकारइं,
ऊडइं आडइं अगि रगि, असवार विचारइं ॥१२३॥

---

1. कंकोली किम रोपिओ, करि-माल महावल ।

धसि धामइं धड़हडइं धरणि रथि सारथि गाढा,
जडीय जोध जड़जोड जरद सन्नाहि सनाढा॥
पसरिय पायल-पूरिकि, पुण रलीया रयणायर,
लोह-लहरि वर वीर वयर, वहवटिहिं अवायर ॥१२४॥
रणणइं रवि रण-तूर तार, त्रंबक त्रहत्रहीया।
ढाक ढूक ढमढमइ ढोल, राउत रहरहीया॥
नेच नीसाण निनादि नीर, नींझरण निरंभीय,
रण-भेरी भुंकारि भारि, भूयबलिहिं वियंभीय ॥१२५॥

शालिभद्रसूरि की दूसरी रचना 'बुद्धि रास' एक शिक्षाप्रद सरल भाषा की रचना है। इसका अच्छा प्रचार रहा है। इसके वाद सं० १२५७ में कवि आसिगु ने 'जीवदया रास' सहजिगपुर के पार्श्व जिनालय में बनाया है। कवि जालौर-निवासी शान्तिसूरि का भक्त था। जीवदया के प्रभाव का इसमें वर्णन है। साचौर, चडावल्ली, नागद्रह, फल-वर्द्धि और जालौर के कुमार-विहार-तीर्थ का भी उल्लेख है। कवि ने दान देने की प्रेरणा देते हुए लिखा है:

के नर सालि दालि भुंजंता, घिय घलहलु मज्झे विलहंता।
के नर भूखा दूखियइं, दीसहिं परघरि कम्मु करंता॥
जीवता वि मुया गणिय, अच्छहिं बाहिरि भूमि रुलंता॥३२॥
के नर तंबोलु वि संमाणहि, विविह भोय रमणिहिं सउ मांणहि।
केवि अपुन्नइं वप्पुड़इं, अणु हुंतइ दोहला करंता॥
दाणु न दिन्नउ अन्न भवि, ते नर परघर कम्मु करंता॥३३॥

रचनाकाल के उल्लेख न होने पर भी अपूर्ण प्राप्त 'शान्तिनाथ रास' में खेड़नगर के शान्ति जिनालय की प्रतिष्ठा का उल्लेख होने से उसका रचनाकाल सं० १२५८ के आसपास का सिद्ध होता है। रचयिता खरतरगच्छीय जिनपतिसूरि का शिष्य होना सम्भव है। साह उद्धरण कारित शान्ति जिनालय की प्रतिष्ठा जिनपतिसूरिजी ने की थी। ऐतिहासिक दृष्टि से यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है, यथा:

खेड़नयरि जो संति उद्धरणि कराविउ।
विहि समुदय ससुभत्ति जिणवइसूरि ठाविउ॥२॥

उपर्युक्त रचनाएँ साहित्यिक भाषा में होने से अपभ्रंश के अधिक प्रभाववाली हैं। वोलचाल की भाषा में रची हुई जिनपतिसूरि-सम्बन्धी तीन रचनाएँ प्राप्त हुई हैं जिनमें से श्रावक कवि रयण और भत्तउ रचित 'जिनपतिसूरि गीत' हमारे ऐतिहासिक काव्य-संग्रह में छप चुका है। तीसरा जिनपतिसूरि वधामणा गीत में १२३२ की घटना का उल्लेख है। इस गीत की प्रतियाँ समकालीन लिखी हुई नहीं मिलीं, पर भाषा काफी सरल है। साहित्यिक और वोलचाल की भाषा का अन्तर स्वाभाविक है।

आसीनयरि वधावणउ आयल जिणपति सूरि
जिणचन्दसूरि सीसु आइया लो।
वधावणउ वजावि सुगुरु जिणपति सूरि आविया लो । आंकणी ।
हरिया गोवरि गोहलिया, मोतिय चउक्कु पुरेहु । जिण० ॥१॥
घरि घरि गुडिय उच्छलिया, तोरणि वदुरवाल। जिण० ॥२॥
करड़ कंसीलिय झालरिया, घाघरिया झणकार। जिण० ॥३॥
धनि ए माइ सलाखणी ए, जायउ जिनपति सूरि।
तिहुयणे जगि जसु धवलिया लो ॥४॥
हाले महतो इम भणइ, संपइ होसइ कांइ ।
वालइ चांदि कि चांदणउ, सयह मणोरह पूरि ॥ जिण० ॥५॥

संवत् के उल्लेख वाली तीसरी राजस्थानी रचना 'जम्बूस्वामी रास' महेन्द्रसूरि के शिष्य धर्म ने स० १२६६ में बनाई। ४१ पद्यों की इस रचना में भगवान् महावीर के प्रशिष्य जम्बूस्वामी का चरित्र वर्णित है। यह रास प्राचीन गुर्जर-काव्य-संग्रह में प्रकाशित हो चुका है। (इसके कई पद्य, जो ४ पंक्तियों के हैं, दूसरी प्रतियों में दो-दो पंक्तियों के मिलते हैं, इसलिए प्रकाशित पाठ ४१ पद्यों का है, पर दूसरी प्रतियों में उन्हीं पद्यों की संख्या ५१, ६२ और ६७ तक पहुँच गई है)। अन्तिम केवली जम्बूस्वामी की कथा बड़ी मार्मिक है। उन्होंने विवाह की प्रथम रात्रि में ही आठ पत्नियों को प्रतिबोध दिया था, साथ ही प्रभव नामक चोर भी ५०० चोरों के साथ प्रतिबुद्ध हुआ। रास का आदि-अन्त इस प्रकार है :

आदि—जिण चउवीसह पय नमेवि गुरु-चलण नमेवी।
जंबू-सामिहि तणउ चरिउ, भवियहु निसुणेवी ॥
करि सानिधु सरसति देवि, जिम रयउं कहाणउ।
जंबू-सामिहिं गुण गहण, सखेवि वखाणउ ॥१॥
अन्त—वीर जिणंदह तीथि, केवलि हूउ पाछिलउ।
प्रभवउ वइसारीउ पाटि, सिद्धि पहुतु जंबु स्वामि।
जंबू - सामि चरित पढइं गुणइं जे सभलइं ॥
सिद्धि सुख अणत ते नर लीलहिं पामिसिइं ॥४०॥
महिंदसूरि गुरु सीस, धम्म भणइ हो धम्मीउह ।
चिंतउ राति दिवसि, जे सिद्धिहिं ऊमाहीयाह ॥
वारह वरस सएहिं कवितु नीपनूं छासठए (१२६६)।
सोलह विज्जाएवि दुरिय पणासउ सयल संघ ॥४१॥

'जम्बूस्वामी रास' की तरह स्पष्ट तो नहीं पर दो अन्य रचनाओं में 'जिण-धम्मु कहइ', 'जिणवर धम्मु करहु एक चित्ते' पाठ मिलता है। सम्भव है ये भी जम्बू रास के रचयिता धम्म कवि की ही रचनाएँ हों। इनमें से स्थूलिभद्र रास ४७ पद्यों का है जिसे हमने 'हिन्दी अनुशीलन'—वर्ष ७, अंक ३ में प्रकाशित किया है। इस रास में पाटलिपुत्र

के राजा नन्द के मंत्री शकडाल के पुत्र स्थूलिभद्र का जीवन-प्रसंग वर्णित है। ये कोशा वेश्या के यहाँ बारह वर्ष रहे थे, फिर जैन मुनि हो गए। मुनि अवस्था में गुरु का आदेश लेकर फिर ये कोशा के घर जाकर चातुर्मास करते हैं और अपने दुर्धर्ष शील का परिचय देते हैं। रास का आदि-अन्त इस प्रकार है :

आदि—पणमवि सासण अनइं वाएसरि।
　　थूलिभद्द गुण गहणु सुणि वरह जु फेसरि ॥१॥
अन्त—बहुत कालं संजम पालेहि, चउदहपूरव हियइ धारेहि।
　　थूलिभद्दु जिण धम्मु कहेइ, देवलोकि पंहुतउ जाएवि॥

जैन सतियों के सम्बन्ध में 'सुभद्रा सती चतुष्पदिका' ४२ पद्यों की प्राप्त है। चौपाई छन्द और चतुष्पदिका के नाम की प्राप्त यह पहली रचना है। दूसरी सती-चरित्र-सम्बन्धी रचना 'मयणरेहा रास' ३६ पद्यों का मिला है जिसके प्रारम्भिक ५॥ पद्य त्रुटित हैं। देल्हण-रचित गजसुकुमाल रास राजस्थान भारती में छप चुका है। सतियों सम्बन्धी दोनों रास 'हिन्दी अनुशीलन' में छपे हैं।

संवतोल्लेख वाली अन्य रचनाओं में आबू रास, रेवंतगिरि रास उल्लेखनीय हैं। इन दोनों रासों में आबू और गिरनार तीर्थ पर मंत्रीश्वर वस्तुपाल तेजपाल ने संघ सहित यात्रा करके मन्दिर बनवाए थे, उनका उल्लेख है। आबू रास सं० १४२५ के लगभग लिखित पूर्वोक्त जीवदया रास वाली प्रति में हमें प्राप्त हुआ था और उसे राजस्थान रिसर्च सोसायटी, कलकत्ता के मुखपत्र 'राजस्थानी'—भाग ३, अंक १ में प्रकाशित किया गया है। ५५ पद्यों के इस रास की रचना सं० १२८६ में हुई। इसका रचयिता पाल्हण[1] कवि प्रतीत होता है। आदि-अन्त के कुछ पद्य देखिए :

आदि—पणमेविणु सामिणि वाएसरि, अभिनवु कवितु रयं परमेसरि।
　　नंदीवरधनु जासु निवासो, पभणउं नेमि जिणंदह रासो॥१॥
　　गूजर देसह मज्झि पहाणं, चंद्रावती नयरि वक्खाणं।
　　वावि सरोवर सुरहि सुगीजइ, वहुयारामिहि ऊपम दीजह॥२॥
अंत— बार संवच्छरि नवमासीए, (१२८९) वसंत मासु रंभाउलु दीहे।
　　एहु रास विस्तारिहिं जाए, राखहि सयल संघ अंबाए॥५४॥
　　राखइ जा खुजुआ छइ खेड़इ, राखइ ब्रह्मसंति मूढेरइ॥५५॥

तेरहवीं शताब्दी के विजयसेनसूरि ने रेवंतगिरि रास की रचना की है। इस रास में चार कडवक हैं जिनमें २०, १०, २२ और २० पद्य हैं। गिरनार तीर्थ-वर्णन के कुछ पद्य यहाँ दिए जा रहे हैं। रेवंत गिरि रास—वनराजि वर्णन :

---

१. जैन गुर्जर कविओं—भाग ३, पृ० ३९८ में इसका रचयिता राम (?) लिखा है पर मेरे खयाल से राम के कथन से पाल्हण ने बनाया है 'रामवयण पाल्हण पुज कीजें'। आबू रास का अपर नाम नेमि रासो भी है।

अंगुण अंजण अंबिलीय अंबाडय अंकुल्लु ।
उंबरु अंबरु आमलीय, अगरु असोय अहल्लु ॥१५॥
करवर करपट करुणतर, करवंदी करवीर ।
कुडा कडाह् कयंब कड, करब कदलि कंपीर ॥१६॥
वेयलु वंजलु बउल वड़ो, वेडस वरण विडंग ।
वासंती वीरिणि विरह्, वंसियाली वण वंग ॥१७॥
सीसमि सिंबलि सिरसमि, सिंबुवारि सिरखंड ।
सरल सार साहार सय, सागु सिगु सिणदंड ॥१८॥
पल्लव फुल्ल फलुल्लसिय, रहइ ताहि वणराइ ।
तहि उज्जिल तलि धम्मि यह, उल्लटु अंग न माइ ॥१९॥

कडव— जिम जिम चडइं तडि कडणि गिरनारह ।
तिम तिम ऊडइं (खेह) जण भवण संसारह ।
जिम जिम से उजलु अगि पालाट ए ।
तिम तिम कलिमलु सयलु ओहट्टए ।

उपलब्ध बारहमासों में सबसे प्राचीन 'जिनधर्मसूरि बारह नांवउ' अपभ्रंश भाषा का है । उसके बाद कवि पाल्हण रचित नेमिनाथ बारहमासा मिलता है । पाल्हण का आबूरास सं० १२८९ की रचना होने से इस बारहमासा का रचनाकाल भी इसी के आसपास होना चाहिए ।

बारहमासा वर्णन

सावणि सघण घुडुक्कइ मेहो, पावसि पत्तउ नेमि विछोहो ।
दद्दर मोर लवहिं असंगाह, दह विह वीजु खिवइ चउवाह ॥१॥
कोइल महुर वयणु चवए रवइ, विवोहउ धाह करेई ।
सावणु नेमि जिणिंद विणू, भणइ कुमरि किय-गमणउ जाए ॥२॥

यह बारहमासा १६ पद्यों का है । पहले एवं पन्द्रहवें पद्य में कवि का नाम आता है । उन दोनों पद्यों को भी यहाँ उद्धृत किया जाता है :

आदि—कासमीर मुख मंडण देवी, वाएसरि पाल्हणु पणमेवी ।
पदमावतिय चक्केसरि नमिउं, अंबिकदेवी हउं वीनवउं ॥
चरिउ पयासउ नेमि जिण केरउं, कवितु गुण धम्म निवासो ।
जिम राइमइ विओगु भओ, बारहमास पयासउ रासो ॥१॥

अंत—जो जादवकुल मंडण सारो, जिणि तिणि चडि परिहरिउ संसारो ।
कुमरि तजिय तपु लउ गिरनारे, सिधि परिणउ गउ मोख दुवारे ॥
जणु परिमलु पाल्हणु भणए, तसु पय अणुदिण भत्ति करेहु ।
मणवंछिउ फलु पाविजए, घुव सम सरिसु वयणु फुडु एहू ॥१५॥

इणि परि भणिया 'बारहमासा', पढत सुणंतहं पूजउ आसा।
रायमइ नेमिकुमर बहु चरिउं, संखेविण कवि इणि पर कहिउ।
अंबिकदेवी सासण देवि माई, संघ सानिधु करिजउ समुदाई॥१६॥

जिनेश्वरसूरि के शिष्य श्रावक जगडू रचित 'सम्यक्त्व माई चौपाई' ६४ पद्यों की प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह में प्रकाशित है। यह चौपाई छंद में है। इसी तरह दोहा छंद में रुद्रपल्लीय गच्छ के अभयसूरि के शिष्य पृथ्वीचन्द्र कवि ने 'मातृका प्रथमाक्षर दोधका' नामक ५८ दोहों की रचना 'रस विलास' के नाम से की है। अभयदेवसूरि ने सं० १२८५ में जयन्त-विजय काव्य बनाया जो निर्णयसागर प्रेस से छप चुका है। अतः रस विलास का रचनाकाल भी इसी के आसपास माना जा सकता है। प्रारम्भ और अन्त के दो-दो दोहे यहाँ दिये जा रहे हैं :

आदि—अप्पइं अप्पउ बूझि कर, जो परमप्पइ लीणु।
सुज्जि देव अम्हह सरणु, भवसायर पारीणु॥१॥
माई अक्खर धुर धरिवि वर दूहय छंदेण।
'रस विलास' आरंभियउ, सुकवि पुहविचंदेण॥२॥
अन्त—रुद्दपल्लि गच्छह तिलय, अभयसूरि सीसेण।
रसविलासु निप्पाइयउ, पाइय कव्वरसेण॥५७॥
पुहविचंद कवि निम्मविय, पढि दूहा चउपन्न।
तसु अणुसारिहिं ववहरहिं, पसरइ कित्ति वन्न॥५८॥

जिनपतिसूरिजी के शिष्य वीरप्रभ का समय तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। उनका रचित 'चन्द्रप्रभ कलश' प्राप्त हुआ है। उपर्युक्त कई रचनाओं की भाँति इसकी भाषा भी अपभ्रंश-प्रधान है। इसमें आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के जन्माभिषेक का वर्णन है। बीच के तीन पद्य यहाँ दिये जा रहे हैं :

चारु मंदार मालाहिं पहु अच्चए, धूर्णहिं कप्पूर हरि चंदणह चच्चए।
सिद्ध गंधव्व गायंति किन्नर वरा, रंभ पमुहाउ नच्चंति तहिं अच्छरा॥१३॥
केवि उपफलहिं गयणयलि हुल्लपफला, केवि हरिसेण गंज्जति जिम वयगला।
अट्ठ मंगल्ल किवि लिहहि किवि चामरा, पहु उभय पासि ढालंति तित्यामरा॥१४॥
संख बहु संख पहु पडह झल्लरि महा, ढक्क टंबक्क बुक्का हुडुक्का तहा।
ताल कंसाल मद्दल तिलिम काहला, केवि वायंति कह हरिस कोलाहला॥१५॥

तेरहवीं शताब्दी की कतिपय रचनाओं का विवरण ऊपर दिया गया है। इनमें कुछ की भाषा अपभ्रंश ही है, कुछ अपभ्रंश-प्रभावित राजस्थानी और कुछ बोलचाल की राजस्थानी की रचनायें हैं। रचनाएँ विविध प्रकार की हैं। अपभ्रंश से उनकी परम्परा

जा मिलती है और परवर्ती रचनाओं पर तो इनका प्रभाव होना स्वाभाविक ही है। कुछ रचनाएँ राजस्थान में, तो कुछ गुजरात में रची गई है। पर दोनों स्थानों मे रची गई कृतियों में भाषा का कुछ अन्तर नहीं है। चार पद्यों की छोटी-सी रचना से लेकर २०५ पद्यों तक की रचनाएँ इनमे हैं। कुछ रास है तो कुछ चौपाई, धवल, गीत, मातृकाक्षर, बावनी, जन्माभिषेक, कलश, बोली आदि विविध नामो वाली रचनाएँ इस समय की प्राप्त हैं। कुछ रचनाएँ और भी मिली है पर उनका समय निश्चित नही किया जा सकता है। ये सभी रचनाएँ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के कवियों की है। दिगम्बर सम्प्रदाय में भी इस समय (ग्यारहवीं से तेरहवी शताब्दी) तक अपभ्रश मे काफी रचनाएँ रची गई। उनमें कई तो बड़े-बड़े काव्य हैं। इस काल की कोई गद्य-रचना प्राप्त नही हुई है।

चौदहवी शताब्दी में भी पूर्ववर्ती रचना-प्रकारो की परम्परा बराबर चालू रही है। कई रास, चौपाई, मातृका, चर्चरिका आदि रचनाएँ गुफित हुई है, उनका यहाँ संक्षिप्त परिचय देते है।

स० १३०७ में भीमपल्ली (भीलड़िया) के महावीर जिनालय की प्रतिष्ठा के समय अभयतिलक गणि ने २१ पद्यों का 'महावीर रास' बनाया। प्रतिष्ठा-महोत्सव का वर्णन करते हुए कवि लिखता है कि मण्डलिक राजा के आदेश से श्रावक भुवनपाल ने महावीर जिनालय को स्वर्णमय दण्डकलश से विभूपित कर प्रतिष्ठा करवाई। यथा :

तसु उवरि भवणु उत्तग वर तोरणं, मंडलिय राय आएसि अइ सोहणं।
साहुणा भुवणपालेण काराविय, जगधरह साहु कुलि कलस चाडाविय॥६॥
हेमधयदण्ड कलशो तहिं कारिउ, पहु जिणेसर सुगुरु पासि पयठाविउ।
विक्कमें वरिस तेरहइ सतरुत्तरे(१३०७), सेय वयसाह दसमीइ सुह वासरे॥७॥
इह महे दिसो दिस सघ मिलिया घणा, दसण घण एहिं वरिसंत जिम्व नव घणा।
ठाणि ठाणे पणच्चंति तरुणी जणा, फणि रमणि नेउरा राव रंजिअ जणा॥८॥
घर घरे बद्ध नव वंदणय मालिया, उब्भविय गुडिया चउक परिपूरिया।
आदरिण संघु सयलोवि संपूइओ, सच्च दरिसण नयर लोगु सम्माणिओ॥९॥
रग खिल्लति तहि खेलया, महुरसरि गीउ गायंति वर बालया।
सोलगो दंड नायगु वरा हरसिओ, वीर भवणेण पूरिय पयन्नो हुउ॥१०॥

उपर्युक्त अभयतिलक के गुरुभ्राता (खरतरगच्छाचार्य जिनेश्वरसूरि के शिष्य) लक्ष्मीतिलक उपाध्याय बड़े अच्छे विद्वान् हो गए है, जिन्होंने सं० १३११ पालणपुर में १०१३० श्लोक परिमित प्रत्येकबुद्धचरित्र महाकाव्य बनाया एव सं० १३१७ जालोर मे 'श्रावकधर्मप्रकरण' बृहद् वृत्ति १५१३१ श्लोक परिमित बनाई। इनका रचित 'शांतिनाथ देव रास' नामक राजस्थानी काव्य (पद्य ६०) हमारे संग्रह की नं० १४९३ लिखित प्रति मे है। इसमें ४८ पद्यों तक सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का चरित्र संक्षेप में दिया है। इसके बाद नेटनगर में उद्धरण कारित शांति जिनालय की प्रतिष्ठा सं० १२५८ में जिनपतिसूरि जी ने की और संवत् १३१३ मे जालोर में उदयसिंह के राज्य में शांतिनाथ जिनालय की प्रतिष्ठा जिनेश्वरसूरि ने की, उसका

ऐतिहासिक उल्लेख है। इस रास की रचना सं० १३१३ के आस-पास ही हुई है। यह रास संभवत: जालौर के शांतिनाथ जिनालय में खेला भी गया था। दोनों प्रतिष्ठाओं सम्बन्धी ऐतिहासिक पद्य और अन्तिम तीन-चार पद्य नीचे दिये जा रहे हैं :

तसु पडिम गुरु महिम निपडिम रूवया (१),
सांपर्टिहिं नंदणिण उद्धरणि कारिया।
खेड़ि जिणवयसूरि पासि पयठाविया,
तहिजि परिदिवसि सवि उच्छवा संगया ॥४५॥
विक्कमे वच्छरे बारहट्ठावने (१२५८),
मह्व बहुल पंचमी दिवस करि सोवने।
सोभनदेव राय कारिय पयट्ठाविही,
अप्पणा मज्झि होऊण गुरु महानिही ॥४६॥
धम्म पुरु नट्ट पुरु किनु गीयह पुरं,
किन रासाण पुरु किनु चच्चर पुरं।
किं नु विहि संघ पुरु किनु दाणह पुरं,
तहि महे संकियं एम खेडप्पुरं ॥४७॥
जालउरि उदयसिंह रज्जि सोवनगिरि,
उवरिसो संति ठाविउ जिणेसरसूरि।
पवर पासाय मज्झंमि संवच्छरे,
फग्गुणसिय चउत्थि तेरहइ तेरुत्तरे (१३१३) ॥४८॥
जे संतोसर बारि परि नच्चहि गायहि विविह परि।
ताह होउ सविवार खेला खेली खेम कुसल ॥५७॥
एहु रासु जे दिंति खेला खेली अइ कुसल।
बंभसंति तह संति, मेघनादुवि खेतल करउ ॥५८॥
एहु रासु बहु भासु लच्छितिलय गणि निम्मयउ।
ते लहंति सिव वासु जे नियमणि ऊलटि दियहि ॥५९॥
महि कामिणी रवि इंदु कुंडल जुयलिण जास हइ।
ताम संति जिणचंद्र, अनुइउ रासुवि चिरु जयउ ॥६०॥

राजस्थान में खरतरगच्छ का प्रभाव ग्यारहवीं शताब्दी से ही उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया और तपागच्छ का प्रभाव चौदहवीं शताब्दी से गुजरात में। बारहवीं से तेरहवीं तक और भी कई गच्छों का प्रभाव राजस्थान में अच्छा था। कई आचार्य राजमान्य थे। उनमें से 'धर्मसूरि' शाकंभरी के चौहान राजाओं से सम्मानित हुए हैं। उनसे सम्बन्धित कई रचनाओं का विवरण पाटण जैन भंडार सूची में छपा है। धर्मसूरि के शिष्य आणंदसूरि और उनके शिष्य अमरप्रभसूरि रचित द्वादश भाषा (ढाल) निबद्ध तीर्थमाल स्तवन नामक ३६ पद्यों का एक स्तवन मिला है जो १३२३ में रचा गया। उसमें पहले ३ ढालों तक तो शाश्वत जिनालयों का विवरण है, चौथी से सातवीं ढाल

तक में अनेक जैन तीर्थ-स्थानों के नाम दिए हैं। फिर और भी जहाँ कहीं जैन मन्दिर हों, ३ भवन के जिनालयों को नमस्कार करके दसवीं ढाल में कवि ने अपनी गुरु-परम्परा और रचना-समय का उल्लेख किया है। जैन तीर्थों-सम्बन्धी चैत्य-परिपाटी और तीर्थ-मालाओं का निर्माण चौदहवीं शताब्दी से अधिक होने लगता है। प्राकृत, संस्कृत में तीर्थों-सम्बन्धी स्तोत्र कल्प आदि मिलते ही हैं, पर राजस्थानी भाषाओं में चौदहवीं शताब्दी में तीर्थमालाओं और चैत्य-परिपाटियों की परम्परा प्रारम्भ होकर क्रमशः उसकी रचनाओं की संख्या बढ़ती ही गई है। यहाँ प्रस्तुत तीर्थमाला के अन्तिम ४ पद्य दिये जा रहे हैं :

दसमी भाषा— नवि मागउं सुर रिद्धि, सुरनर खयर रज्जु नवि।
एक तुम्ह पय सेव, मागउं सामिय भविहिं भवि ॥३३॥
सायंभरि नरराय, पणय पाय धम्मसूरि गुरो।
तसु पटि उदयगिरिंद, आणंदसूरि गुरु दिवसयरो ॥३४॥
अमरप्रभसूरि नामु, तासु सीसि संथव रयउ।
तेरह तेवीसमि (१३२३) सिरि चंदुज्जवल जसु दियओ ॥३५॥

एकादशी भाषा—सिवसिरि मणिमाला वन्निया तित्थमाला,
ववगयभवजाला कित्ति कित्ती विसाला।
सिवसुहफलरुक्खं देइ तत्तं परुक्खं,
निहणउ भव-दुक्खं वंछियं होउ सुक्खं ॥३६॥

इसी तरह बारह भाषा या ढालों में 'भमरा रास' रचा गया है, जिसका परिचय आगे दिया जायेगा। संवत् १३३२ में खरतरगच्छ के जिनप्रबोधसूरिजी ने मुनि राजतिलक को वाचनाचार्य पद दिया था। उनका रचित शालिभद्र रास ३५ पद्यों का प्राप्त हुआ है। इसमें राजगृह के समृद्धिशाली सेठ शालिभद्र का चरित्र वर्णित है। शालिभद्र जैसा जबरदस्त भोगी था, वैसा ही योगी भी बना। उसने भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण कर कठोर तप किया। 'जैनयुग', वर्ष २, पृष्ठ ३७० में यह रास प्रकाशित हो चुका है। आदि-अन्त के ३ पद्य यहाँ उद्धृत किए जाते हैं :

आदि—थंभणपुरि पहु पास-नाह, पणमेविणु भत्तिण,
सयल समीहिअ रिद्धि विद्धि सिज्झइ जसु सत्तिण।
हउं पभणिसि सिरि सालिभद्द मुणि-तिलयह रासू,
भविय निसुणिहु जे तुम्ह हुई सिवपुरि वासू ॥१॥

अंत—राजतिलक गणि संथुणइं, वीरजिणेसर गोयम गणिहर।
सालिभद्द तहि धन्नउ मुणिवरु, सयल संघ दुरियइ हरउं ॥ ३४ ॥
सालिभद्द मुणिवर रासू, जे निय उल्लास खेलादित्ती।
तसि सासणदेवी, जणयउ सिव सत्ती ॥ ३५ ॥

सं० १३३१ में जिनेश्वरसूरिजी का स्वर्गवास हुआ। उनके दीक्षा प्रसंग का बड़ा

ही सुन्दर वर्णन कवि सोममूर्ति ने 'जिनेश्वरसूरि संयम श्री विवाह वर्णन रास' में किया है। ३३ पद्यों का यह रास हमारे ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह में प्रकाशित हो चुका है। दीक्षा को संयमश्री नाम देकर उसके साथ जिनेश्वरसूरिजी के विवाह का आध्यात्मिक रूपक उद्भावित करके कवि अम्बड कुमार (जिनेश्वरसूरि का बाल्यावस्था का नाम) द्वारा माता को कहलाता है कि मैं संयमश्री के साथ पाणिग्रहण करूँगा। माँ, मेरा विवाह उसी के साथ करवाओ। फिर बरात प्रस्थान करती है और खेड़नगर में जाकर दीक्षा रूपी विवाह होता है। कवि ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है :

विवाह-रूपक

अंबडु पभणइ माइ सुणि, परिणिसु संजम लच्छि।
इक्कुजुए पुहविहि सलहियइ, जायउ, लखमिणि कुच्छि॥ १५॥
अभिनव ए चालिय जानउत्र, 'अंबडु' तणइ वीवाहि।
अप्पुणु ए धम्मह चक्कवइ, हूयउ जानह माहि॥ १६॥
आवहि आवहि रंगभरि, पंच महव्वय राय।
गायहि गायहि महुर सरि, अट्ठय पवयण माय॥ १७॥
अढार सहसह रहवरह, जोत्रिय तहि सीलंग।
चालहिं चालहि खंति सुह, वेगिहिं चंग तुरंग॥ १८॥
कारइ कारइ नेमिचंदु भंडारिउ उच्छाहु।
वाधइ वाधइ जान देखि, लखमिणि हरख अबाहु॥ १९॥
कुसलिहि खेमिहि जानउत्र पहुतिय 'खेड' मज्झारि,
उच्छव हूयउ अइ पवरो, नाचइ फरफर नारि॥ २०॥
जिणवइ सूरिण सुणि पवरो, देसण अमिय रसेण।
कारिय जीमणवार तहि, जानइ हरिस भरेण॥ २१॥
सति जिणेसर वर भुवणि, मांडिउ नंदि सुवेहि।
वरिसहि भविय दाण जलि, जिम गयणंगणि मेह॥ २२॥
तहि अगयारिय नीपजइ, झाणानलि पजलंति।
तउ संवेगहि निम्मियउ, हथलेवउ सुमुहुत्ति॥ २३॥
इणि परि अंबडु वर कुयरु, परिणइ संजम नारि।
वाजइं नंदिय तूर घण, गूडिय घर घर बारि॥ २४॥

इसी सोममूर्ति कवि की रचित 'जिनप्रबोधसूरि चर्चरी' नामक १६ पद्यों की रचना मिली है। चर्चरी-संज्ञक रचनाएँ थोड़ी-सी ही मिली हैं, इसमें जिनप्रबोधसूरि का आचार्य-पद-स्थापन का उल्लेख है। अतः यह भी सं० १३३२ के लगभग की रचना है। आदि-अंत का एक-एक पद्य इस प्रकार है :

आदि—विजयउ विजयउ कोडि जुग, जिणप्रबोधसूरि राउ।
विप्फुरंत वर सूरि गुण, रयण अलंकिय काउ॥ १॥

अंत—जिणप्रबोधसूरि गुरु तणिय, जे चाचरि पभणंति।
'सोममुत्ति' गणि इम भणइ, पुण्य लच्छि ति लहंति ॥ १६ ॥

इन सोममूर्ति की 'गुरावली रेलुआ' और 'जिनप्रबोधसूरि बोलिका' नामक १३ और १२ पद्यों की और रचनाएँ मिली हैं।

रत्नसिंहसूरि के शिष्य विनयचन्द्रसूरि भी अच्छे विद्वान् एवं कवि थे। सं० १३३८ में उन्होंने 'बारहव्रत रास' ५३ पद्यों का बनाया जो 'जैनयुग' में छप चुका है। इनकी रचित 'आणंद प्रथमोपासक संधि' नामक रचना भी प्राप्त है। धर्मदास गणि के प्राकृत उपदेशमाला के आधार से 'उवएसमाल कहाणय छप्पय' नामक ८१ छप्पय छंदों की रचना प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह में प्रकाशित हुई है एवं रत्नशेखरसूरि रचित 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह में छपी थी। उनमें नेमि राजुल के बारहमासा का सुन्दर वर्णन चौपाई छंद में है। ४० पद्यों का यह प्राचीन बारहमासा है, जो श्रावण से प्रारंभ होकर आषाढ़ मास तक में होने वाले राजुल के मनोभावों एवं प्रकृति का चित्रण है। श्रावण और चैत्र वर्णन का एक-एक पद्य उदाहरण के रूप में दिया जा रहा है:

श्रावणि सरवणि कडुयं मेहु गज्जइ,
विरहिरिझिज्झइ देहु ।
विज्जु झबक्कइ रक्खसि जेव नेमिहि विणु सहि सहियइ केम ॥ २ ॥
चैत्र मासि वणसइ पंगुरइ वणि वणि कोयल टहुका करइ ।
पंचबाण करि धनुष धरेवि वेसइ मांडी राजल देवि ॥ २६ ॥

संवत् १३२७ में रचित 'सप्त क्षेत्र रास' (११९ पद्यों का) प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में प्रकाशित हुआ है। उसमें रचयिता का नाम स्पष्ट नहीं है। जैन धर्म में साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, जिनमंदिर, मूर्ति और ज्ञान—ये ७ धार्मिक क्षेत्र माने जाते हैं। इनका वर्णन इस रास में है। जिन-पूजा के प्रसंग से इसमें आभूषणों, फूलों आदि का अच्छा वर्णन है। उस समय जिन मन्दिर में जो ताला (तालाबद्ध) रास और लकुटी (डांडिया) रास खेले जाते थे, उसका भी बहुत अच्छा विवरण इसमें मिलता है। यहाँ उसी सम्बन्ध के ३ पद्य उद्धृत किए जाते हैं:

बइसइ सहूइ श्रमणसंघ, सावय गुणवंता।
जोयइ उच्छवु जिनह भुवणि, मनि हरष धरंता।
तीछे तालारास पड़इ बहु भाट पढ़ंता ।
अनइ लकुटा रास जोईइ खेला नाचंता ॥ ४८ ॥
सविहु सरीखा सिणगार, सवि नेवड नेवडा ।
नाचइ धामीय रंगभरे, तउ भावइ रूडा ।
सुललित वाणी मधुरि सादि जिन गुन गायंता ।
ताल मानु छंद गीत मेलु वाजित्र वाजंता ॥ ४९ ॥

तिविलां झालरि भेरु करड़ि कंसाला वाजइं ।
पंच शब्द मंगलीक हेतु जिण भुवणइं छाजइं ।
पंच शब्द वाजंति भाटु अंबर वहिरंती ।
इणपरि उच्छवु जिण भुवणि श्री संघु करंतउ ।। ५० ।।

सं० १३४१ में रचित 'स्तम्भतीर्थ अजित स्तवन' नामक २५ पद्यों का (स्तवन) हमारे संग्रह में है ।

सं० १३४१ में ही जिनप्रबोधसूरि के पट्टधर जिनचन्द्रसूरि स्थापित हुए । उनके सम्बन्ध में हेमभूषण गणि विरचित 'युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि चर्चरी' नामक २५ पद्यों की रचना मिली है और श्रावक लखमसिंह ने 'जिनचन्द्रसूरि वर्णना रास' ४७ पद्यों का बनाया है । इसमें उक्त सूरिजी के जन्म, दीक्षा, आचार्य-पदोत्सव एवं प्रतिष्ठा कराने का वर्णन है । अन्त में कवि ने उनकी गुरु-परम्परा भी दे दी है । रास के प्रारम्भ और अन्त के दो पद्य नीचे दिये जाते हैं :

आदि—पास जिणेसरु वीतराउ, पणमेविणु भत्ति ।
कर जोड़वि सुयदेवि नमिवि, कारउ विन्नती ।
चरिउ रइसु मुणिरायहंसु, पहु जिणचंद सूरि ।
नचहु भवियहु भावसारु, जय कलिमलु दूरि ।। १ ।।

अन्त—जुगपहाण पहु जिणचंदसूरि, पयट्टउ निय पयाव जसु पूरि ।
लखमसीहु वन्नवइ अवधारी, अम्ह हिव दुग्गइगमणु निवारि ।।४७।।

जिनचन्द्रसूरिजी-सम्बन्धी चतुष्पदी आदि और भी कई रचनाएँ मिलती हैं, पर उनमें रचयिता का नाम नहीं है । 'जिनचन्द्रसूरि फागु' नामक २५ पद्यों की एक रचना मिली है, जिसके बीच का भाग त्रुटित है । फागु काव्यों में यह सबसे पहली रचना है । मोदमन्दिर नामक खरतरगच्छीय कवि की 'चतुर्विंशति जिन चतुष्पदिका' नामक २७ चौपाई छंद की रचना प्राप्त है । उनकी दीक्षा सं० १३१० में हुई थी । अज्ञात-नाम कवियों की अनेक रचनायें चौदहवीं शताब्दी की प्राप्त हुई हैं पर उनमें रचनाकाल और कवि का नाम नहीं है । ऊपर जिन रचनाओं का परिचय दिया गया है वे चौदहवीं शती के पूर्वार्द्ध की रचनायें हैं । अब उत्तरार्द्ध की कतिपय रचनाओं का परिचय दिया जा रहा है :

सं० १३६३ में प्रज्ञातिलक के समय में रचित कच्छुली रास, प्राचीन-गुर्जर काव्य-संग्रह में प्रकाशित हुआ है । यह एक ऐतिहासिक रास है । कोरंटा, जो कि जोधपुर राज्य में है, में इसकी रचना हुई है ।

तेर त्रिसठ्ह (१३६३) रासु, कोरिंटा वडि निम्मिउ ।
जिणहरि दिंत सूणंत, मण वंछिय सवि पूरउ ।।

सं० १३६८ में श्रावक कवि वस्तिग रचित 'वीस विहरमाण रास' 'जैनयुग'—भाग ५ में छप चुका है और संवत् १३७१ में गुणाकरसूरि-रचित 'श्रावक विधि रास'

भी आत्मानन्द शताब्दी स्मारक ग्रंथ में छपा है।

सं० १३७१ में ही समराशाह ने शत्रुंजय तीर्थ का उद्धार किया था, उसके सम्बन्ध में अम्बदेवसूरि रचित 'समरा रास' प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह में प्रकाशित हुआ है। यह ऐतिहासिक, भौगोलिक एवं साहित्यिक दोनों दृष्टियों से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। संघ यात्रा और वसंत-वर्णन के कुछ पद्य नीचे दिए जा रहे हैं :

पंचमी भाषा—मादलवंसविणाझुणि वज्जए,
गुहिरभेरीयरवि अंबरो गज्जए।
नवयपाटणि नवउ रगु अवतारिउ,
सुपिहि देवालउ संखारी संचारिउ ॥ ६ ॥
घरि वयसवि करि केवि समाहिया,
समरगुणि रंजिउ विरलउ रहियउ ।
जयतु कान्हु दुइ संघपति चालिया,
हरिपालो लंडुको महाधर दृढ़ थिया ॥ ७ ॥
षष्ठी भाषा—वाजिय संख असंख नादि काहिल दुड्दुडिया
घोड़े चडइ सल्लारसार राउत सींगडिया।
तउ देवालउ जोत्रि वेगि, घाघरिरवु झमकइ ।
सम विसम नवि गणइ कोइ, नवि वारिउ थक्कइ ॥ १ ॥
सिजवाला घर धडहडइ, वाहिणि बहु वेगि ।
धरणि धडक्कइ रजु ऊडए, नवि सूझइ मागो ।
हय हींसइ आरसइ करह, वेगि वहइ वइल्ल।
साद किया थाहरइ अवरु नवि देइ बुल्ल ॥ २ ॥
दशमी भाषा—रितुअवतरियउ तहिजि वसंतो, सुरहि कुसुम परिमल पूरंतो।
समरह वाजिय विजय ढक्क, नागु सेल सल्लइ सच्छाया।
केसूय कुड्य कयंब निकाया, संघ सेनु गिरिमाहइ वहए।
वालीय पूछइ तरुवर नाम, वाटइ आवइ नव नव गाम।
नयनी झरण रमाउलइ ॥ १ ॥

संवत् १३७७ में जिनकुशलसूरि का पट्टाभिषेक हुआ। उसका वर्णन धर्मकलश मुनि ने ३८ पद्यों में किया है। यह जिनकुशलसूरि पट्टाभिषेक रास हमारे सम्पादित ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह में प्रकाशित हो चुका है। आचार्य पद महोत्सव का वर्णन करते हुए कवि कहता है :

घरि घरि ए मंगलचार, पुन्न कलस घरि घरि ठविय ।
घरि घरि ए वंदरवाल, घरि घरि गूडी ऊभविय ॥ २६ ॥
वज्जिय ए तूर गभीर, अंबरि बहिरिउ पडिसद्द ।
नाचहिं ए अवनिय बाल, रंजिय सुर यवना रवेहिं ॥ २७ ॥

अणहिलि ए पुर मंझारि, नर नारी जोवण मिलिय ।
किसउ सु तेजउ साहु, जसु एवडउ उच्छव रलिय ।। २८ ।।
घात—धवल मंगल धवल मंगल कलयलारवे
वज्जत घण तूर वर, महुर सद्दि नच्चइ पुरंधिय ।
वसुधारहि वरसंति नर, केवि मेहु जेम मनहि रंजिय ।
ठामि ठामि कल्लोल झुणि, महा महोछवु सोय ।
जुगपहाण पय संठवणि, पूरिय मग्गण लोय ।। ३१ ।।

इसी समय में जिनप्रभसूरि नामक खरतरगच्छ के एक बहुत बड़े विद्वान् शासन प्रभावक आचार्य हो गये हैं, जो सं० १३८५ में मुहम्मद तुगलक बादशाह से दिल्ली में मिले थे और वह इनकी विद्वत्ता से बड़ा प्रभावित हुआ था। इन आचार्यश्री की रचित पद्मावती चौपाई ३७ पद्यों की प्राप्त है, जो भैरव पद्मावती कल्प नामक ग्रन्थ के परिशिष्ट नं० १० में प्रकाशित हो चुकी है। चौपाई छंद में पद्मावती देवी की स्तुति की गई है। पद्मावती देवी का माहात्म्य-वर्णन करते हुए कवि कहते हैं :

बंझ नारि तुह पय झावंति, सुर कुमरोवम पुत्त लहंति ।
निंदू नंदण जणइ चिराउ, दूहव पावइ वल्लह राउ ।।३३।।
चिंतिय फल चिंतामणि मंति, तुज्झ पसाई फलइ नियन्तु ।
तुम्म अणुग्गह नर पिक्खेवि, सिज्झइ सोलह विज्जाएवि ।।३४।।
रूप-कंति-सोहग्ग-निहाण, निव पूइयपय अमिलियमाण ।
कवि - वाईसर हुंति ते धण्ण, जाहं पउमि ! तु होहि पसण्ण ।।३५।।
तुह गुण अन्त न केण वि मुणिय, तहवि तुज्झ मइं गुणलव थुणिय ।
आण जु पालइ जिणसिंघसूरि, तीर्थ संघ मणवंछिय पूरि ।।३६।।
पउमावई चउपई पढंत, होइ पुरिस तिहुयणसिरिकन्त ।
रम्म भणइ निय जस कप्पूरि, सूरदीय भवण जिणप्पहसूरि ।।३७।।

जिनप्रभसूरिजी ने प्राकृत तथा संस्कृत में तो अनेक ग्रन्थ बनाए ही हैं, पर कुछ फुटकर गीत, पद, स्तवन अपभ्रंश और राजस्थानी में भी बनाए हैं। सं० १४२५ के आस-पास की लिखी हुई जिस संग्रह प्रति का पहले उल्लेख किया गया है उसमें जिनप्रभसूरि जी के तीर्थयात्रा का स्तवन और फुटकर गीत मिले हैं। साथ ही जिनप्रभसूरिजी के सम्बन्ध के भी ३ गीत मिले थे जो हमने ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह में प्रकाशित कर दिए हैं। इनके पट्ट पर जिनदेवसूरि स्थापित हुए। उनका भी एक गीत उनके साथ ही छप गया है। इस संग्रह प्रति में और भी अनेक महत्त्वपूर्ण रचनायें कुछ पूर्ण और कुछ अपूर्ण प्राप्त हुई हैं। कवि छल्हु की 'क्षेत्रपाल द्विपदिका', 'पहाड़िया राग', 'प्राभातिक नामावलि' आदि ऐसी ही रचनायें हैं।

जिनकुशलसूरिजी के पट्ट पर जिनपद्मसूरिजी की पदस्थापना सं० १३९० में हुई है। उनका पट्टाभिषेक रास कवि सारमूर्ति ने २९ पद्यों का बनाया जो हमारे

ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह में छप चुका है, इन जिनपद्मसूरिजी कृत 'सिरि थूलिभद्द फागु' २७ पद्यों की एक सुन्दर रचना है। वर्षा-वर्णन-सम्बन्धी निम्न पद्य द्रष्टव्य है :

> झिरिमिरि झिरिमिरि झिरिमिरि ए मेहा वरसंति।
> खलहल खलहल खलहल ए वाहला वाहंति।
> झबझब झबझब झबझब ए वीजुलिय झबक्कइ।
> थरथर थरथर थरथर ए, विरहिणि मणु कंपइ ॥६॥

प्राचीन काव्यों का एक विशिष्ट संग्रह 'प्राचीन फागु संग्रह' के नाम से महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा से छप चुका है। इसमें चौदहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक के ३५ फागु काव्य हैं। इनके अतिरिक्त मुझे और भी फागु आदि काव्य मिले हैं जिनका विवरण फिर कभी प्रकाशित किया जायगा।

धवल, उत्साह को प्रकट करने वाला एक मांगलिक गीत विशेष है। सं० १२७७ में रचित 'जिनपतिसूरि धवल गीत' से ऐसे 'धवल' काव्यों की परम्परा चालू होती है, जो सत्रहवीं शताब्दी तक चलती है। इनका परिचय मैं 'बिहार थियेटर' में प्रकाशित 'धवल संज्ञक जैन रचनाएं' नामक लेख में दे चुका हूँ।

रेलुआ संज्ञक कुछ रचनायें चौदहवीं शताब्दी की ही मिली हैं। यह परम्परा आगे नहीं चली। प्राप्त रचनाओं का परिचय जैन-सत्यप्रकाश में दिया जा चुका है। मातृकाक्षर क्रम से रचे पद्यों की परम्परा 'बावनी' के नाम से तेरहवीं सदी से ही प्रारम्भ होकर उन्नीसवीं शताब्दी तक चलती रही है। चौदहवीं शताब्दी में रचित 'अंबिकादेवी पूर्व भव वर्णन तलहरा' नामक ३० पद्यों की रचना 'हिन्दी अनुशीलन' में मैंने प्रकाशित की है। 'तलहरा' नाम की यह एक ही रचना मिली है। राजस्थानी भाषा के जैन रचना-प्रकारों के सम्बन्ध में मेरा लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका में द्रष्टव्य है।

संवत् १२२५ से १४०० तक की राजस्थानी रचनाओं का संक्षिप्त विवरण आगे दिया गया है। ये रचनायें रास, रास, चौपाई, बारहमास, विवाहलो, कलश, जन्माभिषेक, बोली, मातृका, गीत, चर्चरी, विवाहला, संधि, फागु, छप्पय, चन्द्रायणा, तलहरा, पट्टाभिषेक रास, कक्क, गुर्वावली, रेलुआ, धवलगीत, वर्णना रास आदि विविध नामों वाली हैं। इनका विविध दृष्टियों से विशेष महत्व है। कई रचनाएं ऐतिहासिक हैं कई तीर्थ-सम्बन्धी, उनका ऐतिहासिक और भौगोलिक महत्व है। तत्कालीन समाज और संस्कृति पर भी कई रचनाओं द्वारा अच्छा प्रकाश पड़ता है। कई रचनाओं में ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेखनीय विवरण है। आबूरास, गिरनार रास में सुप्रसिद्ध गुजरात के मंत्रीश्वर वस्तुपाल तेजपाल द्वारा निर्मित मन्दिरों-जिनालयों और तीर्थयात्रा का वर्णन है। इसी तरह समरारास में शत्रुंजय तीर्थ के उद्धार का महत्वपूर्ण विवरण है। रास्ते के ग्राम-नगरादि का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है। जिनपतिसूरि, जिनेश्वरसूरि, जिनप्रबोधसूरि, जिनचन्द्रसूरि, जिनकुशलसूरि, जिनपद्मसूरि, जिनलब्धिसूरि आदि आचार्यों के चरित्र में दीक्षा, पट्टाभिषेक आदि का सुन्दर वर्णन है। दीक्षा कुमारी के साथ विवाह करने का रूपक बहुत ही सुन्दर बांधा गया है। शालिभद्र रास और महावीर

रास में खेड़नगर व जालौर के जिनालयों की प्रतिष्ठा का उल्लेख है। वे मन्दिर किसके द्वारा बनाए गए ? कब किस आचार्य ने प्रतिष्ठा की ? इन ऐतिहासिक तथ्यों का निरूपण किया गया है। तीर्थमाला और चैत्य-परिपाटियों में उस समय के प्रसिद्ध जैन तीर्थों और मन्दिरों के नाम प्राप्त होते हैं। कच्छूली रास में एक गच्छ की आचार्य परम्परा का इतिवृत्त है।

चरितकाव्यों में तीर्थंकरों, चक्रवर्त्तियों, महापुरुषों, विशिष्ट आचार्यों का जीवन-चरित्र दिया गया है। सुभद्रा और मयणरेहा रास सती-साध्वी स्त्रियों की जीवन-घटनाओं पर प्रकाश डालते हैं। पद्मावतीदेवी और क्षेत्रपाल सम्बन्धी रचनायें उस समय के जैन मान्य देवी-देवताओं की जानकारी देती हैं।

कई रचनायें औपदेशिक या शिक्षाप्रद हैं, उनसे पाप परिहार और धर्माचरण की सुन्दर प्रेरणा मिलती है। उस समय रास जैन मन्दिरों में किस प्रकार खेले जाते थे, इसका उल्लेखनीय विवरण सप्त क्षेत्र रास में मिलता है। विवाहला, दीक्षा-विवाह वर्णन में उस समय की वैवाहिक रीतियों-उत्सवों की झाँकी मिल जाती है। फागु और बारह-मासादि काव्यों में प्राकृतिक वर्णन और नारी-सौन्दर्य-वर्णन किया गया है। भरतेश्वर बाहुबली रास में युद्ध का वर्णन वीर-रसात्मक है।

कई रचनाओं में राजाओं का भी उल्लेख है जिनका जैनाचार्यों से सम्बन्ध रहा है। आचार्य जिनप्रभसूरिजी ने मुहम्मद तुगलक की सभा में सम्मान प्राप्त किया था। उनके सम्राट् से मिलने का महत्त्वपूर्ण उल्लेख जिनप्रभसूरि गीत में मिलता है। इस तरह अनेक दृष्टियों से पूर्व-वर्णित रचनाओं का महत्त्व स्वयंसिद्ध है।

५

मध्यकालीन राजस्थानी साहित्य

सरस्वती-वंदना

अगम आगम अरथ उतारे उर सती, वयण अमृत तिके रयण ज्युं वरसती।
हुअइ हाजर सदा हेतु आ हरसती, सेविजै देवि जै सरसती सरसती ॥१॥
विद्या दे सेवकां विनौ वाधारती, अड़वड्यां सांकड़ी वार आधारती।
इंद नरिंद जसु उतारे आरती, भणां तुझ नैं नमो भारती भारती ॥२॥
वेलि विद्या तणो वधारण वारदा, हुआ प्रसन्न सहु पामिजै हारदा।
प्रसिद्ध सकल कला नीरनिधि पारदा, शुद्धचित्त सेव नित सारदा सारदा ॥३॥
अधिक धर ध्यान नर अगर उखेवता, व्यास वाल्मीक कालीदास गुण वेवता।
सुबुद्धि श्री धर्मसी महाकवि सेवता, दीयइ सहु सिद्धि श्रुतदेवता देवता ॥४॥

(जैन कवि धर्मवर्द्धन कृत सरस्वती-स्तुति)

जैसा कि पहले कहा गया है, राजस्थानी साहित्य का निर्माण तेरहवीं शताब्दी से माना जाता है। तब से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक की जितनी भी राजस्थानी रचनाएँ प्राप्त हैं वे सभी जैन कवियों द्वारा रचित हैं। इसलिए इससे पहले के भाषण में संवत् १४०० तक की रचनाओं का ही उदाहरण सहित विवरण दिया है। पन्द्रहवीं शताब्दी से प्राचीन गुजराती या राजस्थानी की जैनेतर रचनाएँ भी मिलने लगती हैं। कवि आसायत की हंसावली, लोककथा को लेकर लिखा हुआ प्रथम जैनेतर भाषा-काव्य है जिसकी रचना सं० १४०७ के आसपास की है। इसके बाद भीम कवि की सदयवत्स-प्रबन्ध आदि अन्य जैनेतर रचनाओं की शृंखला प्रारम्भ हो जाती है। चारण कवि की स्वतन्त्र राजस्थानी रचना अचलदास खीची की वचनिका गद्य-पद्य मिश्रित पहली राजस्थानी कृति है। इसमें गागरौनगढ़ के अचलदास खीची और मालवा के सुलतान आलमशाह के युद्ध का वर्णन है। चारण कवि शिवदास ने संवत् १४७२ के आसपास इसे बनाया। सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर से यह महत्त्वपूर्ण कृति प्रकाशित हो चुकी है। इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी में राजस्थानी साहित्य का एक नया मोड़ आया। गुजराती और राजस्थानी की कुछ पृथक्ता भी इसी समय से परिलक्षित होने लगती है। लोककथाओं-सम्बन्धी काव्यों की रचना भी राजस्थानी व गुजराती में इसी समय प्रारम्भ हुई।

जहाँ तक राजस्थानी जैन रचनाओं का सम्बन्ध है, पन्द्रहवीं शताब्दी के पहले छोटी-छोटी रचनाएँ ही अधिक रची जाती रहीं, पर पन्द्रहवीं शताब्दी में कुछ बड़े रास भी रचे गए हैं। आगे चलकर तो रासों का पद्य-परिमाण बढ़ता ही गया। दूसरा अन्तर यह भी आया कि चौदहवीं शताब्दी तक की रचनाओं में अपभ्रंश का जो प्रभाव रहा है वह भी पन्द्रहवीं शताब्दी से कम होने लगा है। साहित्य की कई नई विधाएँ भी पन्द्रहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होती हैं।

पन्द्रहवीं शताब्दी के उल्लेखनीय जैन कवियों और उनकी रचनाओं का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

मलधारी राजशेखरसूरि-रचित नेमिनाथ फागु संवत् १४०५ के आसपास की रचना है। संवत् १४०९ में मेवाड़ के आघाट नगर-स्थित पार्श्वनाथ जिनालय में हलराज कवि ने स्थूलिभद्र फाग की रचना की। तदनन्तर संवत् १४१० में शालिभद्रसूरि ने 'पाँच पांडव रास' और विराट पर्व की रचना की। पाण्डवों के सम्बन्ध में जैन कवि की राजस्थानी भाषा में यह प्रथम रचना है।

संवत् १४१२ में उपाध्याय विनयप्रभ ने गौतमस्वामी रास बनाया और यह बहुत प्रसिद्ध हुआ। मुनि ज्ञानकलश ने जिनोदयसूरि पट्टाभिषेक रास और श्रावक कवि विद्दणु ने 'ज्ञानपंचमी चौपाई' बनाई।

जिनोदयसूरि के शिष्य मेरुनंदन पन्द्रहवीं शती के उल्लेखनीय कवि हैं, जिनके रचित 'जिनोदयसूरि गच्छनायक वीवाहला', 'जीरावला पार्श्वनाथ फागु' प्रकाशित हो चुके हैं। इस शताब्दी के दो उल्लेखनीय कवि जयशेखरसूरि और हीरानन्दसूरि हैं, जिनकी रचनाएँ परिमाण में बड़ी और भिन्न शैली की हैं। जयशेखरसूरि का 'त्रिभुवनदीपक प्रबन्ध' एक रूपक काव्य है। ४४८ पद्यों की यह उत्तम रचना है। दूसरे उल्लेखनीय कवि हीरानन्दसूरि महाराणा कुंभा के सम्मानित गुरु थे। इन्होंने 'विद्याविलास पवाड़ा' सं० १४८५ में बनाया। 'पवाड़ा' संज्ञक लोककथा-सम्बन्धी राजस्थानी का यह पहला काव्य है। हीरानन्दसूरि की अन्य रचनाएँ भी प्राप्त हैं। 'त्रिभुवनदीपक प्रबन्ध' और 'विद्याविलास पवाड़ा' अहमदाबाद व बड़ौदा से छप चुके हैं।

सोलहवीं शताब्दी में भी कई अच्छे राजस्थानी जैन कवि हो गए हैं। सं० १५०५ में कवि संघकलश ने सम्यक्त्व रास बनाया, जिसमें केवल नवकोटि मारवाड़ के तलवाड़ापुर में रचे जाने का उल्लेख है। संवत् १५१२ में ऋषिवर्द्धनसूरि ने चित्तौड़ में नलदमयन्ती रास बनाया। यह रोमन लिपि में पाश्चात्य देशों से भी प्रकाशित है। उपकेश गच्छीय कवि मतिशेखर, सहजसुन्दर भी अच्छे कवि थे। इस गच्छ के वाचक विनयसमुद्र ने अनेक रास, चौपाई, सन्धि आदि की रचना की, जिनमें विक्रम पंचदण्ड चौपाई और पद्मचरित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सम्राट् विक्रम की लोककथाओं ने जैन कवियों को बहुत आकर्षित किया और उनकी रचित संस्कृत एवं राजस्थानी की लगभग ५० रचनाएँ विक्रम-सम्बन्धी प्राप्त हैं। पंचदण्ड की कथा-सम्बन्धी राजस्थानी काव्य सर्वप्रथम विनयसमुद्र ने बनाया। उनके पद्मचरित्र में जैन रामायण की कथा है। यद्यपि इससे पहले दिगम्बर कवि जिनदास ने राजस्थानी-गुजराती में सर्वप्रथम राम-

काव्य लिखा था, श्वेताम्बर राजस्थानी कवियों में रामकाव्य के प्रथम लेखक विनय-समुद्र ही हैं।

सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में शताधिक राजस्थानी जैन कवि हो गए हैं, इसलिए उनमें से विशिष्ट कवियों का ही यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

कवि कुशललाभ ने ढोलामारू के प्राचीन दोहों को सम्मिलित करते हुए ढोला-मारू चौपाई नामक रचना जैसलमेर के राजकुमार हरराज के कौतूहलार्थ संवत् १६१६ में बनाई। इसी प्रकार उन्होंने माधवानल-कामकदला की प्रेमकथा की चौपाई भी रची है। इन दोनों कथाओं से जैनधर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है, प्रसिद्ध लोककथाओं को ही कुशललाभ ने अपनाया है। तीसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'पिंगल-शिरोमणि' हरराज के नाम से बनाया, यह राजस्थानी भाषा का पहला छन्द-ग्रन्थ है। इसमें उदाहरण के रूप में राम-कथा का उपयोग किया गया है। ये तीनों ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। दुर्गा-सत-सई आदि कवि की अन्य रचनाएँ हैं।

कवि हीरकलश बीकानेर और नागौर क्षेत्र में अधिक रहे हैं। उनकी रचनाओं में 'हीरकलश' नामक ज्योतिष ग्रन्थ अपने विषय की महत्त्वपूर्ण कृति है। आपके कई रास, चौपाई आदि फुटकर रचनाएँ भी प्राप्त हैं जिनमें से सिंहासनबत्तीसी, संवत् १६३६ मेड़ता में रची गई है। इनके शिष्य हेमानन्द ने वैताल पच्चीसी और भोजचरित चौपाई आदि ग्रन्थ बनाए। ये तीनों लोककथाओं पर ही आधारित हैं।

कवि हेमरत्न ने महाराणा प्रताप के मंत्री भामासाह के भाई ताराचन्द के आदेश से गोरा-बादल चौपाई नामक पद्मिनी-सम्बन्धी रचना सं० १६४५ सादड़ी में की। राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान से यह प्रकाशित हुई है। सीता चरित्र आदि कवि की अन्य भी कई रचनाएँ हैं।

कवि सारंग ने संस्कृत के महाकवि बिल्हण की प्रेमकथा और भोजप्रबन्ध चौपाई नामक रचनाएँ कीं। भोज चौपाई का परिचय राजस्थान भारती में प्रकाशित है।

सत्रहवीं शताब्दी के राजस्थानी कवियों में सर्वाधिक उल्लेखनीय कवि मालदेव और महोपाध्याय समयसुन्दरगणि हैं। मालदेव की २० रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनका विवरण 'शोध पत्रिका' व 'सप्त सिन्धु' में प्रकाशित किया जा चुका है। कवि की विशेष प्रसिद्ध रचना 'पुरन्दर चौपाई' मरु-भारती में प्रकाशित कर दी गई है। अन्य कई रासों के कथासार भी प्रकाशित किए जा चुके हैं। कवि मालदेव उच्चकोटि के कवि थे, उनकी रचनाओं में बहुत-से सुभाषितों का प्रयोग हुआ है और कई सुभाषित तो उन्होंने स्वयं बनाए हैं। इनकी भाषा में हिन्दी का प्रभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

महो० समयसुन्दर का संक्षिप्त परिचय दूसरे भाषण में दिया जा चुका है। उनकी संस्कृत, राजस्थानी, हिन्दी भाषा की ५६३ लघु रचनाओं का संग्रह समयसुन्दर कृति कुसुमांजली के नाम से हमने प्रकाशित किया है। राजस्थानी भाषा की बड़ी रचना 'सीताराम चौपाई' और 'समयसुन्दर रास पंचक' भी सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट से प्रकाशित हो चुके हैं।

सुकवि जिनराजसूरि का शालिभद्ररास सर्वाधिक प्रसिद्ध राजस्थानी काव्य

है। आपकी राजस्थानी व हिन्दी की समस्त रचनाओं का संग्रह 'जिनराजसूरि कृति कुसुमांजली' नाम से छप चुका है। ये वहुत ही उच्च कोटि के कवि थे।

कवि केशराज ने रामकथा को 'राम यशो रसायन रास' के नाम से काव्यबद्ध किया। गुणसागरसूरि ने 'ढालसागर'—हरिवंश में जैन सम्मत कृष्ण-कथा दी है। कवि लावण्यरत्न ने राम-कृष्ण चौपाई के नाम से राजस्थानी कृष्णकाव्य बनाया। कवि केशव ने प्रसिद्ध प्रेमकथा सदयवत्स—सावलिंगा की चौपाई संवत् १६२७ में बनाई। कवि मंगलमाणिक्य आदि ने विक्रम की लोककथाओं-सम्बन्धी रास बनाए।

इस शताब्दी के उल्लेखनीय दिगम्बर कवि ब्रह्म रायमल्ल हैं, जिन्होंने संवत् १६१५ से '३३ तक कई रास, फाग, चरित्रादि बनाये।

अठारहवीं शताब्दी में राजस्थानी भाषा के सबसे बड़े कवि जिनहर्ष हुए हैं जिन्होंने संवत् १७०४ से १७६० तक में लगभग ७० उल्लेखनीय रचनाएँ एवं लगभग ३०० फुटकर कृतियाँ बनाईं, जिनमें कई रास तो बहुत बड़े हैं। इनकी फुटकर रचनाओं का संग्रह जिनहर्ष-ग्रन्थावली के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। जसराज के नाम से प्रसिद्ध इनके दोहे बड़े सुन्दर हैं।

जिनहर्षजी के गुरुभ्राता लाभवर्द्धन ने विक्रम ९०० कन्या चौपाई, पंचदण्ड चौपाई, लीलावती-गणित, शकुनदीपिका, आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त पांडव चौपाई नामक ४००० श्लोक परिमित जैन महाभारत की भी रचना की। कवि कमलहर्ष ने भी इतः पूर्व पाण्डव रास सं० १७२८ मेड़ता में बनाया। पाण्डवों-सम्बन्धी अठारहवीं शताब्दी के इन दोनों कवियों के रास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

महिमासमुद्र, जिनका आचार्य पद के बाद जिनसमुद्रसूरि नाम प्रसिद्ध हुआ, उन्होंने राजस्थानी भाषा में काफी रचनाएँ की हैं जिनमें से कुछ जैसलमेर भंडार में अपूर्ण प्राप्त हुई हैं। आपकी वहुत-सी फुटकर रचनाएँ भी जैसलमेर भंडार के गुटके में देखी गई हैं। कुछ रचनाएँ हिन्दी में हैं और कल्पसूत्र बालावबोध नामक गद्य भाषा टीका भी प्राप्त है। राजस्थानी काव्यों में वसुदेव चौपाई का अपर नाम 'नवरस सागर' है।

कवि लालचन्द, जिनका दीक्षा नाम लब्धोदय था, ने पद्मिनी चौपाई सं० १७०६ में उदयपुर में बनाई। यह सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट से प्रकाशित हो चुकी है। मलयसुन्दरी चौपाई आदि कवि के अन्य ६ रास भी प्राप्त हैं।

इस शताब्दी के कवियों में धर्मवर्द्धन, विनयचन्द्र, लक्ष्मीवल्लभ, कुशलधीर, सुमतिरंग, आनंदघन, देवचन्द्र आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से विनयचन्द्र और धर्मवर्द्धन की कृतियाँ हमने इन्स्टीट्यूट से प्रकाशित कर दी हैं।

कविवर धर्मवर्द्धन राज्यमान्य श्रेष्ठ कवि थे। उनकी रचित सरस्वती-स्तुति ऊपर दी जा चुकी है। यहाँ वर्षा, शीत, उष्ण का वर्णन दिया जा रहा है, जिससे कवि की प्रतिभा का परिचय स्वयं मिल जाएगा। सुप्रसिद्ध वीर दुर्गादास, अमरसिंह और शिवाजी के गीत भी बड़े ओजपूर्ण हैं। संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी—तीनों भाषाओं पर कवि का समान अधिकार था। अब वर्षा-वर्णन का रसास्वादन कीजिये :

मेह

सबल मेंगल वादल तणा साज करि,
गुहिर असमाण नीसाण गाजैं।
जंग जोरें करण काल रिपु जीपवा,
आज कटकी करी इन्द्र राजैं ॥१॥
तीख करवाल विकराल वीजलि तणी,
घोर माती घटा घरर घालें।
छोड़िवा सांघणी सोक छांटां तणी,
चटक माहे मिल्यो कटक चालै ॥२॥
तडा तडि तोब करि गयण तड़कै तडित,
महा झड़ झड़ि करि झूझ मण्डयौ।
कड़ा किडि कोध करि काल कटका कीयौ,
खिणक रैं वल खल सवल खंड्यौ ॥३॥
सरस वांना सगल कीध सजल थल,
प्रगट पुहवी निपट प्रेम प्रघला।
लहकती लाछि चलि लील लोकों कही,
सुध मन करैं धर्म-शील सघला ॥४॥

शीत-उष्ण—वर्षाकाल वर्णन

शीत—ठंड सबली पड़ें हाथ पग ठाठरें, वायरौ उपरां सबल बाजै।
माल साहिब तिके मौज माणै सही, भूखियै लोकरा हाडभाजै ॥१॥
किड़किड़ै दाँतरी पांत सीसी करें, धूम-मुख उसमा तणा धखिया।
दुरव सुंगरव सौ जांणि गुजें दरक, दरव हीणा सवै लोक दुखिया ॥२॥
सौड़ि विचि सूइजे तापिजें सिगड़ए, सवल सी मांहि पिण सद्रव सोरा।
ए तिण वार में पांण ती ओजगी, दोजगी भरैं निसदीस दौरा ॥३॥
ग्रीष्म—झाड़ उन्हालरी झाड़ ह्वै, झाखरा जल तजे पालि पाताल जावैं।
सधन वैठा पियै मालिए सरवतां, निधन नइ नीरपणि हाथ नावै ॥४॥
किसौ सीतकाल उन्हाल सखरौ कहां, हुवौ सुख दुख तणौ देव हाथै।
आवियै जेण संसार रौ ह्वै उदौ, मुदौ सब वात रौ मेह माथै ॥५॥
वर्षा—धुराजल घर ध्रुवें धान धींणें धरा, सरस मानै सरह सको सरिखा।
फसल फल फूल री हूंस सगले फले, वड़ी रितु सहु रित मांहि वरिषा ॥६॥

उन्नीसवीं शताब्दी के कवियों में ज्ञानसारजी बड़े उच्चकोटि के योगी थे। अठारह वर्ष की आयु में वीकानेर में स्वर्गवासी हुए। वहाँ के श्मशानों के पास वे कई वर्ष रहे। वीकानेर, जयपुर, किशनगढ़, जैसलमेर आदि के महाराजा आपके भक्त थे। वीकानेर-नरेश सूरतसिंहजी तो इन्हें नारायण का अवतार ही मानते थे। इनकी कविता

प्रौढ़ और अनुभवयुक्त है। हिन्दी व राजस्थानी, गद्य और पद्य दोनों तरह की आपकी रचनाएँ हैं। आपके रचित 'संबोध अष्टोत्तरी' के कुछ दोहे यहाँ दिए जा रहे हैं:

छाया मिसे छलेह, काल पुरुष कैडै पड्यौ।
ज्वान बाल वृद्ध जेह, नितका निगलै नारणा ॥६॥
इल में कौन इलाज, नहीं कला ओषद नहीं।
अड्यै काल अहिराज, न वचै काया नारणा ॥७॥
छिन छिन छीजै आय, पांणी ज्युं पुसली तणौ।
घड़ी घड़ी घट जाय, नितकी छीजण नारणा ॥८॥
पुरस जिके परभात, दीठा ते दीसै नहीं।
विषम काल रीबात, न कही जायै नारणा ॥६॥
मुगता चुगै मराल, गंडसूरा विष्टा भखै।
लिखिया अंक लिलाड़, न मिटै मेट्याँ नारणा ॥१५॥
वानर तणौ विनोद, कदे न कीधौ कामरौ।
प्रगटै नहीं प्रमोद, नीच लडावण नारणा ॥१८॥

ज्ञानसारजी का मूल नाम 'नराण या नारण' था, वही दोनों में प्रयुक्त हुआ है। इनके समकालीन उपाध्याय क्षमाकल्याण भी बहुत बड़े विद्वान हुए हैं। संस्कृत व हिन्दी के अतिरिक्त आपने राजस्थानी में गद्य और पद्य में कई रचनाएँ की हैं।

स्थानकवासी संप्रदाय के कवि जयमल, उनके शिष्य रायचन्द, विनयचन्द तथा चौथमल की बहुत-सी रचनाएँ प्राप्त हैं। चौथमल ने रामायण व महाभारत भी राजस्थानी पद्यों में बनाई हैं। इसी संप्रदाय में से अलग होकर भीषणजी ने तेरापंथ चलाया। इनकी सारी रचनाएँ राजस्थानी गद्य और पद्य में हैं। पद्यबद्ध रचनाओं के दो खण्ड १६५० पृष्ठों में निकल चुके हैं। इन्हीं की परम्परा में आचार्य जीतमलजी हुए, जिन्होंने राजस्थानी गद्य और पद्य में तीन लाख श्लोक परिमित रचनाएँ की हैं। भगवती सूत्र ढालबद्ध ५०१ ढालों व ६०,००० श्लोक परिमित महान् ग्रन्थ हैं। राजस्थानी भाषा के ये सबसे बड़े ग्रन्थ हैं।

राजस्थानी जैन साहित्य की कतिपय विशेपताओं की चर्चा कर देना भी यहाँ आवश्यक है। प्रथमतः तेरहवीं शताब्दी से अब तक प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण की रचनाएँ मिलने के कारण भाषा के विकास की पूरी शृंखला मिल जाती है। दूसरी विशेपता है अनेक विधाओं या संज्ञाओं को अपनाना। इसकी कुछ चर्चा पहले की जा चुकी है।

तीसरी विशेपता है प्राचीन गद्य की प्रचुरता।

चौथी विशेपता है ऐतिहासिक रचनाओं की अधिकता। जैनाचार्यों, मुनियों, श्रावकों, तीर्थों आदि के सम्बन्ध में छोटी-बड़ी सैकड़ों रचनाएँ हैं जिनमें जैन इतिहास के साथ राजस्थान और भारत के इतिहास एवं भूगोल पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है।

जैन मुनि वर्ष में केवल वर्षाकाल के चार महीने एक जगह रहते हैं, अन्य समय घूमते रहते हैं। इसलिए उनकी रचनाओं में अनेक स्थानों, वहाँ के शासकों एवं निवासियों का उल्लेख मिल जाता है। ग्रन्थों की रचना एवं लेखन-प्रशस्तियों में भी अनेक ऐतिहासिक सूत्र ऐसे प्राप्त होते हैं जिनका अन्यत्र कहीं मिलना सम्भव नहीं।

पाँचवीं विशेषता : चारण कवियों की साहित्यिक शैली और भाषा रूढ़-सी है, पर जैन रचनाओं में बोलचाल की सरल भाषा का उपयोग अधिक होने से भाषा के प्रान्तीय भेदों और बोलियों की अनेकता के उदाहरण मिल जाते हैं।

छठी विशेषता : जैन रचनाओं का उद्देश्य जन-साधारण को नीति और धर्म की ओर आकर्षित और अग्रसर करने का रहा है। अतः नैतिक जीवन के उत्थान और धर्म की प्रेरणा, जैन एवं अध्यात्म की प्रेरणा जैन रचनाओं से जितनी मिलती है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। चारणादि कवियों ने वीररस और शृंगाररस का साहित्य अधिक लिखा और जैन कवियों ने शान्त रस का। इससे दोनों की रचनाएँ परस्पर पूरक-सी हैं।

सातवीं विशेषता : लोककथाओं और लोकगीतों की देशियों को अधिकाधिक अपनाकर लोक-साहित्य का बहुत बड़ा संरक्षण किया गया है। हजारों विस्मृत लोकगीत और कथाएँ जैन रचनाओं द्वारा ही सुरक्षित रह सकी हैं। जैनेतर साहित्य की सुरक्षा में भी जैन लेखकों का बड़ा भारी योगदान है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है—राजस्थानी साहित्य की एक उल्लेखनीय विशेषता है—गद्य की प्राचीन और प्रचुर उपलब्धि। जैन विद्वानों ने तेरहवीं शती से जैसे पद्य में रचनाएँ बनाना प्रारम्भ किया वैसे ही गद्य में भी टीकाएँ तथा जनसाधारणोपयोगी रचनाएँ लिखीं। मुनि जिनविजयजी सम्पादित 'प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ' में संवत् १३३४ से लेकर सवत् १५०० तक की प्राचीन गद्य-रचनाएं व कथाएँ छपी हैं। और भी ऐसी गद्य-रचनाएँ मुनिजी के संग्रह आदि में देखी गई हैं, जिनमें एक रचना बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी की भी है। जिनवल्लभसूरि, जिनका उल्लेख आगे किया गया है, के ग्रन्थ की भाषा टीका या कठिन शब्दों के अर्थ रूप में गद्य का प्रयोग किया गया है। 'बालावबोध' भाषा टीका शैली की सर्वप्रथम रचना 'षडावश्यक बालावबोध' नामक है जिसे तरुणप्रभसूरि ने संवत् १४११ में लिखा है। इसमें प्रासगिक छोटी-छोटी अनेक कथाएँ हैं। उसके द्वारा प्राचीन गद्य-शैली का अच्छा परिचय मिल जाता है। छोटे-छोटे वाक्यों में लिखी गई ये कथाएँ, उस समय गद्य-शैली पुष्ट हो चुकी थी, उसकी सूचना देती हैं। गद्य का कुछ नमूना देखिए :

"मालव्य देश मंडण चंद्रिका नामि नगरि। तारापीडु ईसइ नाम राजा तिहुं राज्य करइ। सुमित्रु नामि तेह तणइ मंत्री। तारापीडु राजा नव तारुण्यवंतु पुण्य कर्म परानमुखु हुंतउ। सुमित्र मंत्रि प्रति भणइ—देव पूजा, गुरु पाद वंदना दानादि धर्म करि किसइ कारणिइ मुधा आपणंउ जनमु निगमइ। तूं जिम त्रिफलहं ईहं धर्महं करि सुवर्णं आपणउं देहु कउणु डहइ। इसी परिराई भणतइ हुंतइ सुमित्रु मंत्री विकसित वदनु हुंतउ राजेन्द्र प्रति भणइ-महाराज! इसी परि अनुचितु वचनु तुम्हें काई बोलउ।"

पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तो तुकान्त वर्णनात्मक गद्यशैली का 'पृथ्वीचन्द्र

चरित्र' नामक ग्रंथ मिलता है। उसमें वसन्त ऋतु का वर्णन देखिये :

'तिसिइ आविउ वसंत, हूउ शीत तणउ अंत। दक्षिण दिसि तणउ शीतल वाउ वाइं, विहसइं वणराइं।"

सत्वे भल्ला भासड़ा पण वइसाह न तुल्ल।
जे दवि दाधा रूखड़ां तींह माथइ फुल्ल॥

"मउरिया सहकार, चंपक उदार। वेउल वकुल, भ्रमरकुल संकुल। कलरव करइं कोकिल तणां कुल। प्रवर प्रियंगु पाडल, निर्मल जल, विकसित कमल। राता पलास, सवंत्री वास। कुंद मुचकुंद महमहइं, नाग पुन्नाग गहगहइ। सारस तणी श्रेणि, दिसि वासीइं कुसुमरेणि। लोकतणे हाथि वीणा, वस्त्रडंबर भीणा।'

बालावबोध और वर्णनात्मक गद्य-शैली का प्रचार दिनोंदिन बढ़ता गया। जैन आगम, प्रकरण, चरित्र आदि सैकड़ों प्राकृत, संस्कृत ग्रन्थों को जनसाधारण अपनी भाषा में समझ सके इसी दृष्टि से शताधिक बालावबोध (भाषा-टीकाएँ) लिखे गये। वर्णनात्मक गद्य भी इतना अधिक मिलता है कि ग्राम, नगर, राजा, प्रकृति, भोजन आदि के करीब ६०० वर्णनों का संग्रह तो दस भागों में विभक्त करके मैंने अपने सम्पादित 'सभा शृंगार' ग्रन्थ में प्रकाशित भी कर दिया है। ये वर्णन पन्द्रहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक के लिखे हुए हैं। उदाहरण के लिए युद्ध का एक वर्णन दिया जा रहा है :

वीर मादल वाज्या, सूर साज्या।
जय ढक्कु वाजी, नीसत नीकली गया लाजी।
त्रंबक त्रहत्रहायइ, नेजा लहलहायइ।
त्रिभुवन टलटलवा लागा, माहोमाहि वइर जाग्या।
सूर्य आछदिउ, रजो गण उन्मादिउ।
सेष सलसलिउ, दिग्गज हलवलिउ।
आदि वराह धुरहरिउ, उच्चैश्रवा थरहरिउ।
परदल मिलइ, चींध चलवलइ।

जैनेतर ग्रन्थों में भी पन्द्रहवीं शताब्दी में राजस्थानी गद्य व वर्णन शैली का प्रयोग होने लगा था। ऐसी रचनाओं में अचलदास खीची की वचनिका चारण कवियों की सबसे पहली रचना है। वचनिका शैली में स्वतन्त्र ग्रन्थ तो ३ ही मिले हैं। 'अचलदास खीची री वचनिका' के बाद अठारहवीं के आरम्भ में खिड़िया जग्गा की 'राव रतन महेसदासोत री वचनिका' और उत्तरार्द्ध में जैन यति जयचन्द की 'माताजी री वचनिका' रची गई। ये तीनों वचनिकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। ऐसी रचनाओं में गद्य और पद्य दोनों का उपयोग होता है। अन्य राजस्थानी काव्य-ग्रन्थों में भी 'वचनिका' गद्य शैली का प्रयोग हुआ है। कुछ रचनाएँ द्वावैत शैली की भी मिलती हैं।

टब्बा शैली जैन कवियों की संक्षेप में अर्थ लिखने की प्रणाली है। हस्तलिखित

प्रतियों में प्राकृत या संस्कृत का मूल पाठ बड़े अक्षरों में रहता है और उसके ऊपर राजस्थानी गद्य में अर्थ लिखा रहता है। बालावबोध में विस्तृत विवेचन रहता है, टब्बे में संक्षिप्त शब्दार्थ ही। लाखों श्लोक परिमित टब्बे और बालावबोध दोनों शैलियों की जैन ग्रन्थों की भाषा टीकाएँ मिलती हैं। कुछ स्वतन्त्र कथाएँ भी गद्य में लिखी हुई प्राप्त हैं।

जैन लेखकों ने टब्बा, बालावबोध, प्रश्नोत्तर, पट्टावली कथा आदि के रूप में लाखों श्लोक परिमित राजस्थानी गद्य में रचनाएँ की हैं। इनके अतिरिक्त ख्यातों एवं वातों का गद्य भी प्रचुर है।

अब संक्षेप में जैनेतर राजस्थानी साहित्य का परिचय दे दिया जाता है, जिसमें चारणों की रचनाएँ सर्वाधिक महत्त्व की हैं। चारण कवि हजारों की संख्या में हो गये हैं, पर उनमें से अधिकांश कवियों ने फुटकर दोहे एवं गीत आदि ही लिखे हैं। डिंगल गीतों की अपनी एक विशेषता है। वे गाये नहीं जाते, एक विशेष शैली में बोले या पढ़े जाते हैं। डिंगल गीतों के शताधिक प्रकार हैं। राजस्थानी छन्द ग्रन्थों में उनका लक्षण व उदाहरण लिखा मिलता है। 'राजस्थानी छन्द ग्रन्थ', 'पिंगल सिरोमणि', 'रघुनाथ रूपक,' 'रघुवर जस प्रकाश' प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से 'रघुवर जस प्रकाश' चारण कवि विद्वानों का है। 'पिंगल सिरोमणि' जैन कवि कुशललाभ का और 'रघुनाथ रूपक' सेवग कवि मंछाराम का है।

चारण कवियों के डिंगल गीत २०-२५ हजार की संख्या में प्राप्त हैं। इनके द्वारा हजारों वीरों की स्मृति सुरक्षित रह सकी है। बहुत-से वीरों का तो कहीं इतिहास में नामोल्लेख नहीं मिलता, पर उनके विशिष्ट कार्यों की सूचना इन डिंगल गीतों से मिल जाती है। डिंगल गीतों के सम्बन्ध में जोधपुर के श्री नारायणसिंह भाटी ने शोध-प्रबन्ध लिखकर 'डॉक्टरेट' प्राप्त की है।

डिंगल गीतों की तरह राजस्थानी भाषा में दोहे भी बीस-तीस हजार से कम उपलब्ध नहीं हैं। इनमें हजारों दोहे चारण कवियों ने भी बनाये हैं। यह अपभ्रंशकालीन प्रसिद्ध छन्द है और सर्वाधिक दोहे राजस्थानी भाषा के ही प्राप्त हैं। इनका विषय-वैविध्य भी उल्लेखनीय है। छन्द ग्रन्थों में दोहा के ५० के लगभग भेद बतलाये गये हैं। जैन कवि राजसोम ने दोहों-सम्बन्धी एक स्वतन्त्र-छन्द ग्रन्थ 'दोहा चंद्रिका' के नाम से बनाया जो मैंने 'मरुभारती' में प्रकाशित कर दिया है। फुटकर दोहों के अतिरिक्त कई काव्य भी दोहों में ही रचे हुए हैं, उनमें सबसे प्रसिद्ध है—'ढोला मारू रा दूहा'। इसके रचयिता का तो ठीक से पता नहीं पर यह प्रेम-कथा बहुत प्रसिद्ध रही है। अतः 'ढोला मारू रा दूहा' के छोटे-बड़े कई संस्करण मिलते हैं। 'दोहा' छन्द का दूसरा उल्लेखनीय काव्य है—'माधवानल कामकंदला प्रबन्ध'। कवि गणपति ने २५०० दोहों वाली इस प्रेम-कथा की रचना संवत् १५७४ में की है। राजस्थानी दोहों के सम्बन्ध में श्री ओमानन्द सारस्वत ने शोध-प्रबन्ध लिखा है।

गद्य में लिखी गई बातों में भी दोहों का खूब प्रयोग हुआ है और कई बातें या कहानियाँ तो दोहों में ही लिखी हुई मिलती हैं।

चारण कवियों ने राज्याश्रित होने के कारण राजाओं आदि के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक काव्य लिखे हैं। वीररस की रचनाएँ सबसे अधिक चारण कवियों की ही मिलती हैं। वे अपनी रचनाओं द्वारा वीरों में जोश भरते रहे हैं और वीरों की प्रशंसा में उन्होंने दोहे या गीत लिखना अपना कर्तव्य समझा था। बहुत-से चारण कवि तो वीरों के साथ युद्धभूमि में भी रहते थे एवं उनकी विजय में सहयोग देते थे। चारण कवियों के गद्य में लिखी हुई दो वर्णन-प्रधान रचनाएँ भी उल्लेखनीय हैं 'राजान राउत रो बात वणाव' और 'नीबावत रो दोपहरो'। इनमें वर्णन बड़े सुन्दर हैं। 'राजस्थानी गद्य संग्रह' भाग १ में, जो श्री नरोत्तमदासजी स्वामी द्वारा सम्पादित है, ये दोनों रचनाएँ छप चुकी हैं।

गद्य में भी ख्यातों और बातों के रूप में चारणों ने उल्लेखनीय साहित्य का निर्माण किया है। ख्यातों में इतिहास की प्रधानता रहती है और बातों में रोचक कथा-शैली की। वैसे बहुत-सी बातों का सम्बन्ध इतिहास से भी है और कुछ लोककथाएँ व प्रेम-कथाएँ भी हैं। चारणेतर कवियों ने भी कुछ ख्यातें और बातें लिखी हैं जिनमें मुहणोत नैणसी री ख्यात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बहुत-सी ख्यातों और बातों में उनके लेखकों का नाम नहीं मिलता, पर उनमें से कुछ तो निश्चित रूप से चारणों ने लिखी हैं। बीकानेर के चारण विद्वान् दयालदास ने 'राठोड़ों की ख्यात' और बीकानेर के सम्बन्ध में ३ ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें से 'दयालदास री ख्यात' का एक अंश ही अभी तक प्रकाशित हो सका है। 'नैणसी री ख्यात' मूल रूप में और हिन्दी अनुवाद रूप में छप चुकी है। राजस्थानी बातों के भी अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

चारण कवियों ने भक्ति और नीति-सम्बन्धी रचनाएँ भी की हैं। ईसरदास बारहठ और पीरदान लालस आदि भक्त कवियों की रचनाएँ प्रकाशित भी हुई हैं। नीति दोहों में रचित सोरठे बहुत प्रसिद्ध हैं। चारण कवियों में दुरसाजी आढ़ा बांकीदास, सूरजमल मिसण, ईसरदास आदि कई तो बहुत प्रसिद्ध हैं। डॉ० मोहनलाल जिज्ञासु ने अपने चारणी-साहित्य सम्बन्धी शोध-प्रबन्ध में ६०० से अधिक चारण कवियों और उनकी रचनाओं का उल्लेख किया है। बांकीदास की रचनाओं का संग्रह ना० प्र० स० से तीन भागों में छप चुका है। उनके ऐतिहासिक नोट्स के रूप में लिखी हुई संक्षिप्त बातें या ख्यात भी श्री नरोत्तमदास स्वामी द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुकी हैं। सूरज प्रकाश 'राजरूपक' आदि कई ऐसे काव्य भी कई चारण कवियों के छप चुके हैं। राजरूपक आदि अभी अप्रकाशित हैं और डिंगल गीतों के संग्रह भी।

कवि सूर्यमल मीसण की 'वीर सतसई' वीर रस की एक विशिष्ट रचना है। यद्यपि वे सतसई को पूरा बना नहीं पाये, अतः ३०० से भी कुछ कम दोहे ही प्राप्त हैं पर हैं बड़े अनूठे। डॉ० कन्हैयालाल सहल आदि ने इनका सम्पादन कर भारती भण्डार, इलाहाबाद से प्रकाशन करवाया है। उदयपुर के वर्तमान चारण कवि नाथूदान महरारिया की 'वीर सतसई' भी छप चुकी है। कवि ईसरदास बारहठ की 'हाला झाला रा कुण्डिला' भी वीर रस की उल्लेखनीय रचना है। डॉ० मोतीलाल मेनारिया द्वारा सम्पादित

होकर वह भी प्रकाशित हो चुकी है।

चारण कवियों के अतिरिक्त कुछ राजाओं आदि ने भी राजस्थानी में उल्लेखनीय रचनाएँ की हैं जिनमें से बीकानेर के महाराज पृथ्वीराज रचित 'कृष्ण रुक्मिणी री वेलि' राजस्थानी का सर्वोत्कृष्ट काव्य माना जाता है। इस पर संस्कृत और राजस्थानी में करीब नौ टीकाएँ लिखी गई और दो हिन्दी पद्यानुवाद भी रचे गए। इस काव्य के कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं और उन्हें पाठ्यक्रम में भी स्थान मिला है।

महाकवि पृथ्वीराज की 'कृष्ण रुक्मिणी री वेलि' के सम्बन्ध में दूरसा आढ़ा ने प्रशंसा करते हुए यहाँ तक कहा है कि 'यह पाँचवाँ वेद और उन्नीसवाँ पुराण है।' पृथ्वीराज के कृष्ण, गंगा आदि की स्तुति-परक रचित दोहे और कुछ डिंगल-गीत भी मिलते हैं। ये भक्त कवि थे, 'भक्तमाल' में भी इनका उल्लेख पाया जाता है। आपका एक भक्ति गीत यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। कवि की भक्ति-भावना को इसमें देखिये—

हरि ! जेम हलाड़ौ तिम हालीजै,
काय धण्याँ सुं जोर क्रिपाल् ।
मोष्ली दिवौ दिवो छत्र माथै,
देवो सो लेऊ स दयाल ॥१॥

रीस करौ भावै रलियावत,
गज भावै खरचाढ़ गुलाम।
माहरै सदा ताहरो साहब ।
रजा-सजा सिर ऊपरि राम ॥२॥

मूझ उमेद बड़ी महमैहण,
सिंधुर पाखै केम सरै ?
चीतारौ खर-सीस चित्र दै,
किसूं पुतलियाँ पाण करै ? ॥३॥

तू सामी प्रिथीराज ताहरो,
वलि् बीजौ को करै विलाग ?
रूड़ौ जिको प्रताप रावलौ,
भूंडो जिको अम्हीणौ भाग ॥४॥

चारण भक्त कवि प्रोढ़ा आपा ने कई वहुत ही प्रेरणादायक गीत लिखे हैं जिनमें से एक इस प्रकार है—

कर जाणौ कोई भलाई कीजौ, लाभ भजन रा लीजो लोय,
पुरखां दुय दिन तणा प्रामणा, किणसूं मती विगाड़ौ कोय ॥१॥
जाणौ छे, जाणो छै, जाणौ, समझो भीतर होय सयान,
वै दिन काज जहर क्यूं बोवो, मरदां ! दूर तणा मिजमान ॥२॥

यूँ हिज करताँ जासी ऊमर, परम न काल परार न पौर,
आपाँ बात कराँ अवराँ री, आपांरी करसी कोई ग्रोर ॥३॥
गरवा हुवौ हरी-गुण गावौ, छीलर जेम म दाखौ छेह।
आज र काल करंताँ ओपा, दिहड़ा गया सुताली देह ॥४॥

यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ कि राजस्थानी साहित्य को सुसम्पादित रूप में प्रकाशित करने का श्रेय कलकत्ता को है। कलकत्ता विश्वविद्यालय से सन् १९२१ में Selections from Hindi Literature नामक एक सुन्दर संकलन सर सीताराम संपादित प्रकाशित हुआ था। एशियाटिक सोसाइटी से डॉ० एल० पी० टेसिटरी संपादित डिंगल साहित्य के तीन विवरणात्मक सूचीपत्रों के अतिरिक्त तीन महत्त्वपूर्ण डिंगल ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए। उनके नाम हैं—१. वेली कृष्ण रुक्मिणी री २. छंद राव जैतसी रौ, ३. वचनिका राठोड रांव रतन महेसदासोतरी।

कलकत्ता विश्वविद्यालय ने राजपूत इतिहास के प्राध्यापक रूप में जोधपुर के पंडित रामकरणजी आसोपा को संवत् १९७६ में नियुक्त किया था। उन्होंने यहाँ रहकर 'हिस्ट्री ऑफ द राठोडाज्' पुस्तक लिखी जो 'आशुतोष मुखर्जी सिल्वर जुबली अंक' में प्रकाशित है। श्री आसोपा ने 'सूरजप्रकाश' का कुछ अंश एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित करवाया। पं० हरिप्रसाद शास्त्री ने राजस्थानी साहित्य सम्बन्धी एक रिपोर्ट Preliminary Report on the Operation in Search of M. S. of Bardic Chonicles नामक प्रकाशित की है।

ब्राह्मणादि कवियों की राजस्थानी रचनाएँ

राजस्थानी साहित्य के प्रणेता प्रधानतया जैन व चारण कवि हैं पर अन्य जातियों के कवियों ने भी समय-समय पर कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएँ बनायी हैं। चारणी स्वतंत्र रचनाएँ जिस प्रकार पन्द्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध से मिलने लगती हैं, इसी तरह ब्राह्मण कवियों की भी रचनाएँ इसी समय से मिलने लगती हैं। वीसलदेव रास का रचयिता नरपति नाल्ह जोशी ब्राह्मण था। यह रास बोल-चाल की सरल राजस्थानी भाषा में है। इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में तीन-चार तरह के पद्य मिलते हैं, इसलिए रचनाकाल निश्चित करना कठिन हो जाता है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने पाठालोचन सिद्धान्त के अनुसार इसका रचनाकाल संवत् १४०० के कुछ बाद का अनुमानित किया है।

चारणी शैली की उत्कृष्ट ऐतिहासिक रचना पन्द्रहवीं शती के कवि श्रीधर व्यास रचित 'रणमल्ल छंद' है। इस छंद में ईडर के राव रणमल्ल और गुजरात के मुसलमान सूबेदार के युद्ध का वर्णन है। ७० पद्यों की इस रचना की शैली प्रौढ़, भाषा ओजस्विनी और नाद-सौन्दर्य अप्रतिम है। वीर-रस का यह लघुकाव्य पहले गुजरात से प्रकाशित हुआ था और इसकी एक ही प्रति मिली थी। अभी भारतीय विद्या मन्दिर शोध संस्थान, बीकानेर से इसका सानुवाद संस्करण प्रकाशित हो रहा है। श्रीधर

व्यास की दूसरी रचना 'सप्तशती छंद' की एक प्राचीन प्रति अनूप-संस्कृत-लायब्रेरी बीकानेर में प्राप्त है, इसमें मार्कण्डेयपुराण में उल्लिखित देवी-चरित्र संक्षेप में वर्णित है। 'मरुवाणी' पत्रिका में मैंने इसे प्रकाशित करवा दिया है।

वीसलनगरीय नागर ब्राह्मण कवि पद्मनाभ का 'कान्हड़दे प्रबन्ध' ब्राह्मण कवि रचित दूसरा ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण काव्य है। इसमें जालोर के सोनिगरा चौहान कान्हड़दे और अलाउद्दीन के युद्ध का ऐतिहासिक वृत्तान्त है। प्राचीन राजस्थानी भाषा की यह एक उत्कृष्ट कृति है। राजस्थान प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर से इसका सुसंपादित संस्करण प्रकाशित हो चुका है। इसका रचनाकाल संवत् १५१२ है।

ब्राह्मण कवि की तीसरी ऐतिहासिक रचना 'हम्मीरायण' ३२६ पद्यों की रचना है जिसे व्यास भांडा ने सं० १५३८ के कार्तिक सुदी ७ सोमवार को रचा। हम्मीरायण का सम्पादन भंवरलाल नाहटा ने किया है और डॉ० दशरथ शर्मा की विस्तृत एवं ऐतिहासिक भूमिका के साथ सादूल-राजस्थानी-रिसर्च-इन्स्टीट्यूट, बीकानेर से यह प्रकाशित हो चुकी है।

ढाढी बादर मुसलमान जाति का पहला कवि है जिसने राठौर राव वीरम के चरित्र को लेकर 'वीरमायण' नामक काव्य बनाया। कई गाँवों में चारण कवि इसका मौखिक पाठ करते हैं। राजस्थान-प्राच्य विद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर से यह काव्य 'वीरवांण' नाम से छप चुका है।

कायस्थ कवि गणपति ने माधवानल कामकंदला प्रबन्ध (२५०० दोहों का प्रेम काव्य) संवत् १५५४ में बनाया। अन्य एक कायस्थ कवि रचित भागवत एवं गीता का पद्यानुवाद हमारे संग्रह में है।

राजस्थानी का बुद्धिवर्द्धक-साहित्य

राजस्थानी-साहित्य जीवनोपयोगी सभी विषयों से समृद्ध है। मानव-जीवन में बुद्धि के विकास और मनोरंजन की नितान्त आवश्यकता है। राजस्थानी-भाषा की कतिपय विनोदपूर्ण रचनाएँ—भैंस की सेवा', 'ऊंदर रासो' आदि 'मरुभारती' में प्रकाशित की गई हैं। बुद्धिवर्द्धक-साहित्य में आडी, गूढ़ा, हीयाली, प्रहेलिका, अन्त-र्लापिका, बहिर्लापिका आदि प्राप्त हैं। प्राचीन-काल में काव्यों में भी इनका प्रयोग हुआ है। पति-पत्नी इस प्रकार की चर्चा द्वारा अपना मनोविनोद एवं बुद्धि की परीक्षा किया करते थे। ससुराल जाने पर जामाता की बुद्धि-परीक्षा के लिए सालियाँ आदि उससे पहेलियां पूछा करती थीं। जैन कवियों ने हीयाली नाम से सैकड़ों लघु-रचनाएँ बनायी हैं, 'हियाली' शब्द का प्रयोग प्राकृत भाषा के सुभाषित ग्रन्थ 'वज्जालग्ग' में हुआ है। अतः यह परम्परा पर्याप्त प्राचीन है पर हीयाली के स्वरूप में परिवर्तन होता रहा है। सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक की हीयालियों का हमने एक बृहत् संग्रह तैयार किया है। पाँचसौ से अधिक आडियों का एक संग्रह बीकानेर से कई वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। यहाँ जैन कवियों की रचित हीयालियों में से एक समयसुन्दर और एक धर्मवर्द्धन की उदाहरण-स्वरूप दी जा रही है।

(१) कहिज्यौ पंडित एह हीयाली, तुम्हें छउ चतुर विचारी।
नारी एक त्रण अक्षर नामे, दीठी नयर मझारी रे ॥ क० ॥१॥
मुख अनेक पण जीभ नहीं रे, नर नारी सुं राचइ।
चरण नहीं ते हाथि चालइ, नाटक पाखे नाचइ रे ॥क० ॥२॥
अन्न खाय पानी नहीं पीवइ, तृप्ति न राति दिहाड़इ।
पर उपगार करइ पणि परतखि, अवगुण कोड़ि दिखाड़इ ॥क० ॥३॥
अवधि आठ दिवस नी आपी, हियइ विमासी जोज्यो।
'समयसुन्दर' कहइ समझी लेज्यो, पणि ते सरिखा मत होज्यो ॥क० ॥४॥
अर्थ—चालनी

(२) चतुर कहो तुम्हें चुंप सुं, अरथ हीयाली एहो रे,।
नारी एक प्रसिद्ध छे, सगला पास सनेहोरे । च० ॥१॥
ओलै बैठी एकली, करै सगलाइ कामो रे ।
राती रस भीनी रहै, छोड़ै नहीं निज ठामो रे ॥ च० ॥२॥
चाकर चौकीदार ज्युं, बहुला राखै पासो रे ।
काम करावै ते कन्हा, विलसै आप विलासो रे ॥ च० ॥३॥
जोड़े प्रीति जणे जणे, त्रोड़े पिण तिण वारोरे ।
करिज्यो वस धर्मसी कहै, सुख वांछौ जो सारो रे ॥ च० ॥४॥
अर्थ—जीभ

राजस्थानी वातों में भी कई बुद्धिवर्द्धक और चतुराई की वातें बड़ी सुन्दर मिलती हैं।

राजस्थानी प्रेम-कथाएँ

प्रेम जीवन का शाश्वत सत्य है। इसके विना जीवन नीरस है । राजस्थानी साहित्य में जीवन की सरसता के अनेक उपादान प्राप्त हैं, जिनमें प्रेम-कथाओं का सर्वाधिक महत्त्व है। ये कथाएँ काव्य और वातों के रूप में गद्य और पद्य में लिखी गई हैं। साथ ही पद्यों के वीच-वीच में गद्य का प्रयोग और गद्य में पद्य का प्रयोग भी हुआ है इससे जन-साधारण का आकर्षण और भी अधिक हो गया।

ढोला-मारू, सदयवत्स, माधवानल-कामकंदला आदि प्रेमकथाएँ पद्यबद्ध मिलती ही हैं, पर ढोला-मारू और सदयवत्स की गद्य और गद्य-पद्य मिश्रित वातें भी प्राप्त हैं। इनकी कई प्रतियाँ तो सचित्र भी मिली हैं। एक-एक प्रेमकथा के छोटे-बड़े कई रूपान्तर मिलते हैं। राजस्थान के अतिरिक्त पंजाब, सिन्ध और गुजरात-सौराष्ट्र की प्रेम-कथाएँ भी राजस्थानी भाषा में लिखी गई हैं। 'सोरठ-बीजा' मूलतः सौराष्ट्र की प्रेम-कथा है। रिसालू, ससी-पुन्यूं, सोहनी-महिवाल आदि पंजाब-सिंध की प्रसिद्ध प्रेम-कथाएँ हैं। कई प्रेम-कथाएँ कल्पित और कई परम्परा पर आधारित हैं। कथा-लेखकों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उनमें पर्याप्त परिवर्तन भी कर दिया है।

कई कथाओं में परकीया प्रेम और अश्लीलता भी पायी जाती है, तो कोई आदर्श प्रेम का उदाहरण भी प्रस्तुत करती हैं। कथा नायक प्रेमी-प्रेमिका एक-दूसरे के लिए अपने प्राण निछावर कर देते हैं। उनके लिए बड़े-बड़े कष्टों का सहना मामूली बात है। नागजी-नागवंती आदि आदर्श कथाएँ बड़ी सुन्दर हैं। राजस्थानी प्रेम-कथाओं का एक संग्रह सादूल-राजस्थानी-रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर से छप चुका है।

राजस्थान में प्रेम-कथाओं सम्बन्धी लोकगीत भी बहुसंख्यक प्राप्त हैं। समय-समय पर इन गीतों को बड़े चाव से गाया जाता है। कई पेशेवर जातियाँ भी प्रेम-कथाओं को वाद्यों के साथ गाकर सुनाया करती हैं और अपनी आजीविका चलाती हैं। ऐसी कुछ कथाओं का संग्रह राजस्थान संगीत नाटक अकादमी, जोधपुर ने रिकार्डिंग के रूप में किया है।

शौर्य और प्रेम का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। राजस्थान में शूरवीर अधिक हुए हैं तो प्रेमी भी बहुत बड़ी संख्या में प्रसिद्ध हैं पर वीर-रस का साहित्य जितना ख्यातिप्राप्त है, राजस्थान का सरस-साहित्य उतनी प्रसिद्धि नहीं पा सका। कुछ तो शृंगार या विलास-वृत्ति के लोगों ने इस साहित्य को विकृत रूप में प्रचारित कर दिया जिससे अच्छे व्यक्तियों की रुचि ही उससे हट गई। इन प्रेम-कथाओं को लेकर सैंकड़ों ख्याल रचे व खेले गए, उनमें से अधिकांश प्रेम-कथा का विकृत रूप प्रस्तुत करते हैं। जनसाधारण का सस्ता मनोरंजन करने के कारण वे काफी बने एवं बिके, पर शिष्ट लोगों की ऐसी कथाओं के प्रचार के कारण अरुचि हो गई।

राजस्थानी नीति-दोहे

जीवन में नैतिकता की बड़ी आवश्यकता है। राजस्थानी साहित्य में भी इस पर बड़ा जोर दिया गया है। जैन-विद्वानों की शिक्षाप्रद रचनाएँ तेरहवीं शती के 'बुद्धि-रास' से प्रारम्भ होकर निरन्तर लिखी जाती रही हैं। चारणादि कवियों ने भी नीति के बहुत से दोहे लिखे हैं जो जन-जन के मुख पर बस गये हैं। राजिया, किसनिया आदि अनेक कवियों के नीति-दोहे प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी लोकप्रियता इतनी अधिक है कि प्रसंग-प्रसंग पर वे लोगों के मुख से स्वयं निःसृत हो जाते हैं। अपढ़ ग्राम्य जनता से लेकर साक्षर विद्वानों तक में उनका आदर है। यहाँ कतिपय राजस्थानी दोहे उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

काछ-दृढा कर-वरसणा, मन-चंगा मुख-मिट्ठ।
रण-सूरा जग-वल्लहा, सो मइं विरला दिट्ठ॥

बड़ा बड़ाई ना करै, बडा न बोलइ बोल।
हीरा मुख सुं नाँ कहै, लाख हमारो मोल॥

हाथी हींडत देख, कूकर लव लव कर मरै।
बड़पण तणो विवेक, क्रोध न आणइ किसनिया॥

तरवर सरवर संतजन, चौथो वरसण मेह।
परमारथ रे कारणै, च्यारां धारी देह॥

तरवर फदै न फल भखै, नदी न संचै नीर।
परमारथ रै कारणै, साधां धर्‌यो सरीर॥
निज गुण ढांकण नेक नित, पर गुण गिण गावंत।
ऐसा जग में सुजन-जन, विरला ही पावंत॥
सज्जन थोड़ा हंस ज्युं, विरला कोई दीसंत।
दुरजण काला नाग ज्युं, महीयल घणा वसंत॥
दुरजण री किरपा बुरी, भली सुजन री त्रास।
जद सूरज गरमी करै, तद वरसण री आसा॥
सगा सनेही और नर, सुख में मिलै अनेक।
विपत पड्‌यां दुख बांट लै, सो लाखां में एक॥
मित ज औगुण मित्तका, अनत नहीं भाखंत।
कूप छाह ज्युं आपणें, हिये में राखत॥
मुख ऊपर मीठास, घट मांहे खोटा घड़ै।
इसड़ां सुं इकलास, राखीजै नहिं राजिया॥
मिलियाँ अति मनवार, वीछड़ियाँ भाखै बुरी।
लानत दे ज्याँ लार, रजो उडावो राजिया॥
की-घोड़ो उपगार, गर कृतघण माने नहीं।
लानतियाँ ज्याँ लार, रजी उडावो राजिया॥
संपत में संसार, हर कोई हेतू हुवै।
विपत पड्‌यां री वार, नयण न निरखै नाथिया॥
पाणी में पाखाण, भीजै पण धीजै नहीं।
मूरख आगै ज्ञान, रीझै पण बूझै नहीं॥
नाम रहंदाँ ठाकराँ, नाणा नाहीं रहंत।
कीरत हंदा कोटड़ा, पाड़्या नाहीं पड़ंत॥
आव नहीं आदर नहीं, नहीं भगती नहीं प्रेम।
हंस कुसल पूछै नहीं, खड़ा न रहियै खेम॥
उदैराज उद्दिम कियां, सब कुछ होवै त्यार।
गाय भैंस कुल में नहीं, दूध पीये मंजार॥
मतलब री मनवार, चुपकै लावै चूरमो।
मतलब बिन मनवार, राब न पावै राजिया॥
धरम घटायां धन घटै, धन घट मन घट जाय।
मन घटिया महिमा घटै, घटत घटत घट जाय॥
सत मत छोडो रे नरां, सत छोड्‌यां पत जाय।
सत की बांधी लिच्छमी, फेर मिलेली आय॥
धीरे धीरे ठाकरां, धीरै सब कुछ होय।
माली सींचै सौ घड़ा, रुत आयां फल होय॥

सीख हीये में ऊपजै, दीवी न आवैं सीख।
अणमांग्या मोती मिलै, माग्यां मिलै न भीख॥
पंडित और मसालची, दोनुं उलटी रीत।
और दिखावै चांनणों, आप अंधारै बीच॥
बांस चढ़ी नटणी कहै, होत न नटियो कोय।
मैं नट करें नटणी भई, नटै सो नटणी होय॥
कहणी जाय निकाम, आछोड़ी आणी उकत।
दामा लोभी दाम, रंजै न बातां राजिया॥
नींद न आवै तीन जण, कहो सखी ते क्यांह।
प्रीत बिछोह्या बहु रिणां, खटकै वैर हियांह॥

जैन कवियों की बावनी संज्ञक रचनाएँ और कई रास नैतिक उपदेश प्रधान ही हैं। कई कथाओं में भी नैतिक जीवन के ऐसे सुन्दर चित्र मिलते हैं कि पढ़ने एवं सुनने वाले व्यक्ति के जीवन में काया-पलट हो जाता है। राजस्थान के नीति साहित्य पर अभी तक अनुसंधान कार्य नहीं हुआ है पर यह निश्चित है कि वह बहुत विशाल और उच्च स्तर का होने के साथ वैविध्यपूर्ण है। सन्तों के साहित्य में भी नैतिक जीवन की प्रबल प्रेरणा पाई जाती है। इस सम्बन्ध में एक स्वतन्त्र शोध प्रबन्ध शीघ्र लिखा जाना अपेक्षित है।

६

राजस्थानी लोक-साहित्य

लोक-साहित्य जनसाधारण द्वारा निर्मित और सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्य है। मानव-हृदय की सरल और सरस अभिव्यक्ति सबसे अधिक लोक-साहित्य में ही पाई जाती है। मानव के हृदय में समय-समय पर अनेक प्रकार की भाव-उर्मियाँ प्रगट होती हैं, वे लोकगीत के रूप में जन-जन में फैल जाती हैं, क्योंकि जनसाधारण उन्हें अपने जीवन से सम्बन्धित मानते हुए रुचिपूर्वक अपना लेता है। लोकगीत अनेक प्रकार के होते हैं, विविध प्रसंगों में व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से उन्हें गाकर गायक-गण श्रोताओं को भाव-विभोर कर देते हैं। इसी प्रकार लोक-कथाएँ भी जन-साधारण के मनोरंजन तथा शिक्षा व प्रेरणा-ग्रहण में सफल माध्यम का काम देती हैं। बालक से लेकर वृद्ध तक सभी कथा-कहानी को बड़ी रुचि से सुनते हैं। अवस्था और रुचि-भेद से कहानियों के भी कई स्वर होते हैं, अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल वस्तु प्राप्त होने पर मनुष्य को अधिक रस व आनन्द प्राप्त होता है।

भारतीय प्राचीन परम्परा के संक्षरण में राजस्थान सदा से अग्रणी रहा है। प्राचीन साहित्य, रीति-रिवाज, धर्म, कला व सांस्कृतिक परम्परा राजस्थान में आज भी बहुत अच्छे परिमाण में सुरक्षित व विकसित देखने में आती है। अन्य प्रान्तों की अपेक्षा प्राचीन लोक-साहित्य राजस्थान में अधिक परिमाण में उपलब्ध है। पाँच सौ वर्षों से भी अधिक समय के लोकगीत व लोककथाएं हस्तलिखित प्रतियों में लिखी हुई आज भी हमें प्राप्त हैं। लोक-कथाओं को अपने सांचे में ढालकर धर्म-प्रचार का माध्यम बनाने की परिपाटी अति प्राचीन काल से प्रचलित है। बहुत-सी लोक-कथाओं ने पुराणों में स्थान पाया और पौराणिक कथाओं ने विभिन्न रूपों में जनता को अनुप्राणित किया। जैन-विद्वानों ने ऐसी लोककथाओं के सम्बन्ध में बहुत-से स्वतन्त्र काव्य बनाए और विक्रम, भोज आदि की कथाओं को भी उन्होंने अपनाया। इस तरह छोटी-बड़ी सैकड़ों रचनाएँ इन लोक-कथाओं को लेकर रची गई हैं।

लोक प्रसिद्ध प्रेम-कथाओं और विशिष्ट व्यक्तियों के सम्बन्ध में लोक-काव्य, जिन्हें लोक-गाथा भी कहा जाता है, बहुत-सी रची हुई हैं। मौखिक रूप से उनका चिरकाल तक प्रचार रहा, इसलिए एक ही कथा-गाथा को लेकर छोटे-बड़े कई काव्य व गीत प्राप्त होते हैं। कई कई लोक-गीत तो काफी बड़े होते हैं, फिर भी लोक-काव्यों की अपेक्षा वे

लघुकाय ही होते हैं। यहाँ सर्वप्रथम राजस्थानी लोक-गाथाओं का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है, फिर लोक-गीतों और कथाओं की चर्चा की जायेगी।

राजस्थानी भाषा का सर्वाधिक प्रसिद्ध और प्राचीन लोक काव्य 'ढोलामारू दूहा' है, जिसके छोटे-बड़े कई रूपान्तर मिलते हैं। नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी से जो इसका संस्करण निकला है उसकी प्रस्तावना में सम्पादकों ने इसे लोक-गीत की संज्ञा दी है। वे लिखते हैं—"ढोलामारू काव्य एक लोक-गीत है। प्रारम्भ से लोक-प्रिय और लोगों की जिह्वा पर रहा है। ऐसे जनप्रिय लोक-गीतों की जो हालत होती है वही इसकी भी हुई। समय-समय पर इसमें अनेक परिवर्तन और परिवर्द्धन हुए। नये दोहे और कई घटनाएँ समय-समय पर इसमें मिलती गईं और पुरानी घटनाएँ कभी-कभी लुप्त भी होती गईं। प्रारम्भ में यह किसी एक लेखक की (सम्भवतः ढोल ढाढी जाति के किसी व्यक्ति की) रचना रही हो, यह सम्भव है परन्तु इसके वर्तमान रूप के निर्माण में तो कोई एक कवि न होकर समस्त जनता ही है।" लोक-प्रिय काव्यों में प्रायः ऐसे परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहते हैं।

वीसलदेव रास को भी एक लोक-काव्य कहा जा सकता है, यद्यपि इसके रचयिता का नाम भी प्राप्त है। पर यह गीति-काव्य है, कई शताब्दियों तक मौखिक रूप से प्रचलित रहा। सतरहवीं शताब्दी में जब इसे लिखित रूप दिया गया तो इसके छोटे-बड़े कई रूपान्तर संगृहीत हुए। छोटा संस्करण १५६ पद्यों में मिलता है और बड़ा करीब ३५० पद्यों का। एक संस्करण में यह चार खण्डों में विभक्त मिलता है। दूसरे संस्करणों में खंड-विभाजन नहीं मिलता। इसका छन्द भी कोई लोक-प्रसिद्ध तर्ज की तरह का लगता है। अंतिम पंक्ति 'टेर' की तरह बार-बार दुहराई गई है। पाठ-भेद भी बहुत अधिक मिलते हैं। इस रास की जितनी भी प्रतियाँ अभी तक मिली हैं वे सभी जैन-लेखकों की लिपिबद्ध की हुई हैं।

राजस्थान के लोकप्रिय काव्यों में पदमा तेली का 'रुक्मिणी-मंगल' प्रमुख है। इसकी प्राचीनतम प्रति संवत् १६६६ की हमारे संग्रह में है। उसमें इसका परिमाण २७५ श्लोकों का है, पर ज्यों-ज्यों इसका प्रचार बढ़ा, परिमाण भी बढ़ने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी में यह परिमाण करीब २५०० श्लोकों तक पहुँच गया। अर्थात् मूल-रूप से करीब दस गुना हो गया। वेंकटश्वर प्रेस से प्रकाशित रुक्मिणी-मंगल की प्रस्तावना में सदाशिवकरण रामरतन दटक माहेश्वरी ने लिखा है कि 'यह काव्य उन्हें बहुत ही अशुद्ध और त्रुटितरूप में मिला था। जोधपुर, नागौर, बीकानेर से ग्यारह पुस्तकें उन्होंने इकट्ठी की हैं। जहाँ पाठ उन्हें अशुद्ध व अधूरा लगा, वहाँ नवीन अन्तरे, दोहे, सोरठे पद बनाकर उसे बृहत् 'रुक्मिणी-मंगल' का रूप दिया।'

उपरोक्त 'रुक्मिणी-मंगल' की तरह दूसरा लोक-प्रिय काव्य है 'नरसीजी रो माहेरो'। मूल रूप में यह काफी छोटा रहा पर इसमें भी बहुत परिवर्तन और परिवर्द्धन हुआ है। इस काव्य के रचयिता का नाम रतना खाती मिलता है। इन दोनों काव्यों के प्रचार और लोक-प्रियता के सम्बन्ध में स्वामी नरोत्तमदासजी ने लिखा है कि, महापुरुष नरसी के एक जीवन प्रसंग को लेकर रतना खाती ने 'नरसीजी रो माहेरो' नामक काव्य

राजस्थानी भाषा में लिखा। यह काव्य ऐसा सुन्दर बना है कि इस कोटि की रचनाएँ ढूंढ़ने पर ही मिलेंगी। राजस्थान में इसका बड़ा प्रचार रहा है और अब भी है। राजस्थानी साधारण जनता में दो काव्य बड़े ही लोकप्रिय हुए—एक तो 'नरसीजी रो माहेरो,' दूसरा 'कृष्ण-रुक्मिणी रो व्यावलो।' इन दोनों के रचयिता उन जातियों में उत्पन्न हुए जिन्हें साधारणतया समाज के नीचे स्तर में स्थान मिला है। प्रतिभा केवल ऊँची कहलाने वाली जाति की सम्पत्ति नहीं है। व्यावला महाकाव्य है और माहेरो को हम खण्ड-काव्य कह सकते हैं। राजस्थान में ये पढ़े उतने नहीं जाते जितने गाये जाते हैं। रात्रि के समय स्त्री-पुरुष मन्दिर आदि किसी जगह एकत्र हो जाते हैं और गायक मंडली अपने बाजों के साथ आ जमती है। कोई ढोलकी बजाता है, कोई छमछमा और कोई सारंगी। मंडली में से एक आदमी एक एक पंक्ति गाता है। दूसरे लोग उसी तरह दुहराते हैं। इस प्रकार कई दिनों तक यह गायन चलता है। समाप्ति के दिन रुपये तथा कपड़ा आदि के चढ़ावे द्वारा गायक मंडली का सत्कार किया जाता है।

ऊपर जिन चार काव्यों का उल्लेख किया गया है उनकी लिखित प्रतियाँ भी मिलती हैं और तीन में तो रचयिताओं के नाम भी हैं इसलिए इन्हें लौकिक शैली के या लोकप्रिय काव्य कहना ज्यादा उपयुक्त होगा। यहाँ उनका उल्लेख इसीलिए किया गया है कि जनता के द्वारा इनमें बहुत कुछ अब बढ़ाया गया है। इसलिए यह किसी एक व्यक्ति की रचना वर्तमान रूप में नहीं रह गई है।

अब मौखिक रूप से जो राजस्थानी लोककाव्य इधर कुछ वर्षों में संगृहीत किये गए हैं उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

राजस्थानी साहित्य के विशिष्ट उद्धारक और आलोचक स्वर्गीय सूर्यकरणजी पारीक की प्रेरणा से श्री गणपति स्वामी ने दो बड़े लोकगीतों का संग्रह किया, १. जीण माता रो गीत, २. डूंगजी जंवारजी रो गीत। इन दोनों का संपादन स्वामी नरोत्तमदास जी ने करके इन्हें 'राजस्थान-भारती' और 'राजस्थानी' में प्रकाशित किया। 'जीण माता रो गीत' में भाई और बहन के निश्छल प्रेम का जैसा सुन्दर और सरस निरूपण है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जीणमाता के गीत के सम्बन्ध में संपादक श्री स्वामीजी ने लिखा है कि 'जीणमाता का मंदिर राजस्थान का सुप्रसिद्ध तीर्थ है, यह मंदिर शेखावाटी के पहाड़ों में है। इससे कुछ दूर पर हर्ष का पहाड़ है, जहाँ हर्षनाथ भैरव का स्थान है। जीणमाता का गीत राजस्थानी साहित्य की अपूर्व निधि है। गीत बहुत बड़ा है।'

'मरुभारती' में इसका (संगृहीत) पूरा अंश छपा है। 'राजस्थान भारती' में अंत का कुछ अंश छपना बाकी रह गया था। संगृहीत अंश के अतिरिक्त मौखिक रूप से और भी कुछ पाठ प्रचलित होना संभव है। बोलचाल की सरल भाषा के भावों का सुन्दर निरूपण देखिये—

जीण

हरसा वीर म्हारा रे दर तो घांघू में जलम्यां दो जणा
हरस बड़ो अर छोटी जीण ।
जामण रा रे जाया अपणी माता के रे जलम्यां दो जणा
हरसा वीरा म्हारा रे मा-बावल खोस्या मेरा राम
जामण रा रे जाया जलमी रो जायो रे भावज खोसियो ।
हरसा वीर म्हारा रे म्हारो कोई कुल में साथी नांय
जामण रा रे जाया अंबर तो पटकी रे धरती सांभली
हरसा भाई म्हारा रे जे म्हारो होती जुग में माय
जामण रा रे जाया अकन-कंवारी नै नांय रे विडारती
हरसा भाई म्हारा रे कुण पूंछै नैणां हंदो नीर
म्हारी मा रा रे जाया कुण रे सिलावै जलतो हीवड़ो
हरसा भाई म्हारा रे कुण फेरे सिर पर म्हारे हाथ
जामण रा रे जाया कुण वुचकारै मीठा बोलड़ां

दूसरे बड़े गीत 'डूंगजी जंवारजी' को गायक जब अपने वाद्य के साथ गाकर सुनाते हैं तो एक समा-सा बँध जाता है। गणपति स्वामी संगृहीत यह गीत 'राजस्थानी' (निबन्ध माला) के प्रथम भाग में छपा था । श्री दौलतसिंह लोढा 'अरविन्द' ने भी इसे मौखिक रूप से संगृहीत कर स्वयं प्रकाशित किया है । डूंगजी जंवारजी अपने समय के प्रसिद्ध धाड़वी थे, पर अपनी विशेषता से वे काफ़ी प्रसिद्ध हुए। उनके सम्बन्ध में रानी लक्ष्मीकुमारी चूड़ावत ने अच्छा प्रकाश डाला है ।

तीसरा प्रसिद्ध लोकगीत 'तेजाजी जाट' का जाटों में काफी प्रसिद्ध है। इन्होंने गोरक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाई थी। श्री गणपति स्वामी ने तेजाजी का गीत लोक-मुख से संगृहीत किया। 'मरु-भारती'-वर्ष १, अंक २ में उनका लेख 'गौभक्त तेजाजी' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। 'राजस्थान भारती' में मेरा एक लेख छपा है, जिसमें संगृहीत अन्य गीत भी दे दिये गए हैं। तेजाजी सम्बन्धी हाड़ौती प्रदेश में प्रचलित गीत ग्वालियर के पं० रामचन्द्र भालेराव ने प्रकाशित किया है।

श्री गणपति स्वामी ने 'माता गूजरी रो पवाड़ो' नामक एक लोककाव्य भी संगृहीत किया था और वह 'मरु-भारती' वर्ष ४, अक ४ में प्रकाशित हो चुका है।

गोपीचन्द भर्तृहरि के लोककाव्य भी राजस्थानी में पाये जाते हैं। श्री दौलत-सिंह लोढा के संगृहीत 'राजा भरतरी' नामक काव्य 'राजस्थान भारती' भाग ६ अंक ३ में प्रकाशित हुआ है। उसका प्रारम्भिक पद इस प्रकार है :—

धन नै जोबन-माया पावणी जी ।
जातां नहीं लागै वार, सतका भरतहरि जी ।

राजस्थानी भाषा के लोक-काव्यों में सबसे प्रसिद्ध 'पाबूजी का पवाड़ा' है ।

पाबूजी राजस्थान के बहुत ही प्रसिद्ध वीर हुए हैं। वे मारवाड़ के राव सींहोजी राठोड़ के पौत्र और धांधलजी के छोटे पुत्र थे। देवल चारणी की गायों को आततायियों से छुड़ाने में इनके प्राण गये। अपने दिये हुए वचन का पालन करने के लिए वे विवाह की वेदिका से ठीक विवाह के बीच उठकर चल दिये थे। सोढा वंश की राजकुमारी सोढी जी से उनका विवाह हो रहा था। इधर देवल चारणी ने अपनी गायों के अपहरण की पुकार इन तक पहुँचाई अतः पाबूजी गौ-रक्षा के लिए चल पड़े और युद्ध में मारे गए। सोढीजी के पवाड़े का कुछ अंश यहाँ दिया जा रहा है जिससे इसकी भाषा और शैली का कुछ परिचय हो जायेगा—

बैठी सोढी रंग-मैलां-रै माँय
कोई, मोतीड़ा तो पोवै नौसर हार-रा ए मोरी सइयाँ।
बांवै-द्याणे भौजायां-री वाड़,
कोई, च्यारूं तो पासाँ बैठी सात सहेलड़ी, ए मोरी सइयाँ।
पोयी सोढी लड़ दोय र च्यार,
कोई, मोतीड़ा तो पोया पूरा डोढसौ, ए मोरी सइयाँ।
आई-आई राठोड़ां री धाड़,
कोई, सोढी जी रै मैलां तलै कर नीसरी, ए मोरी सइयाँ।
माची माची घुड़लां-री घमसाण,
कोई, घुड़लां-री टापां सूं धरती थरहरी, ए मोरी सइयाँ।
गूंज्यौ गूंज्यौ सोढीजी रो कोट,
कोई, रंग मैलां-रा धड़क्या बारी-बारणा, ए मोरी सइयाँ।
लीयाँ छी सोढी सोवन थाली हाथ,
कोई, हाथां-री थाली-रा मोती तरसल्या, ए मोरी सइयाँ।

पाबूजी राजस्थान में लोक-देवता के रूप में पूजे जाते हैं। उनके पुजारी पाबूजी के पवाड़े गाया करते हैं, पवाड़ों की संख्या ५२ बतलायी जाती है पर अभी तक संग्रहीत पवाड़ों की संख्या बहुत थोड़ी है। संभव है कुछ तो भुला दिये गए हों और कुछ पवाड़ों की संख्या बतलाने में अतिशयोक्ति हो। इतने बड़े काव्य को कोई एक व्यक्ति याद नहीं रख सकता एवं मौखिक रूप से जो काव्य प्रसिद्ध होता है, उसमें कुछ कड़ियाँ भूल जाने पर नई जोड़ दी जाती हैं। रोचकता बढ़ाने के लिए भी गायक लोकरुचि व अपनी पसंद के अनुसार परिवर्तन एवं परिवर्द्धन कर देते हैं। पाबूजी के पवाड़ों में से सोढीजी रो पवाड़ो, ब्यावरो पवाड़ो, सतियां रा पवाड़ा, भाटियांरी राड़ रो पवाड़ो, नानड़ियां रो पवाड़ो और चौपड़ रो पवाड़ो छप चुके हैं। पाबूजी की फड़ अर्थात् वस्त्र-पट पर उनके जीवन-प्रसंगों का अंकन प्रदर्शन किया जाता है।

इसी प्रकार का एक दूसरा प्रसिद्ध पवाड़ा 'निहालदे सुलतान' का भी राजस्थान में बहुत प्रसिद्ध है। श्री गणपति स्वामी ने 'मरु भारती'-वर्ष २, अंक ३ में इसकी कथा का परिचय देते हुए पवाड़े का कुछ अंश अपने लेख में दिया है। उन्होंने लिखा है—हमारा

राजस्थानी लोक-साहित्य एक महा समुद्र है जिसमें अनेक अमूल्य रत्न भरे हैं। गीत-कविताओं के अतिरिक्त इसमें बड़े-बड़े प्रबन्ध काव्य भी हैं, जिनमें निहालदे सुलतान सुविशाल और अद्वितीय है। यह काव्य राजस्थान में बहुत लोकप्रिय है और इसकी लोकप्रियता इसी से प्रकट है कि यह राजस्थान की प्रायः सभी विभाषाओं में प्रचलित है। हम एक ही समय मारवाड़, शेखावाटी और तोरावाटी के तीन जोगी-गायकों को पास-पास बिठाकर इसे जोधपुरी, शेखावाटी और नारनौली-विभाषाओं में सुन सकते हैं परन्तु विभाषान्तर होने पर भी इसकी रोचकता में कोई कमी नहीं आ पाती है। इसके मूलरूप व रचनाकाल का पता लगाना दुष्कर है। यदि वह किसी एक रचनाकार की रचना है तो वह कोई अवश्य ही महान् रचनाकार रहा है। कुछ लोगों के अनुमान से 'पाबू काव्य' के रचयिता भोपे तथा 'निहालदे सुलतान' के निर्माता जोगी लोग हैं और उन्होंने भी एक-एक ईंट लगाते-लगाते इतने बड़े भवन खड़े कर दिये हैं। कुछ भी हो इनमें परिवर्तन और परिवर्द्धन अवश्य हुआ है और हो रहा है। यद्यपि अब तक राजस्थानी के विद्वानों नें 'पाबू' तथा 'निहाल दे सुलतान' के पवाड़ों को महाकाव्य नहीं माना है, पर हमारी समझ से तो ये दोनों ही महाकाव्य हैं।

'निहालदे सुलतान' ५३ साखों में समाप्त हुआ है। साखों शब्द शारदा से बना है और इसका अभिप्राय यहाँ खंड, परिच्छेद व सर्ग से है। अतः इतने बड़े प्रबन्ध-काव्य को 'साखा' नाम से पुकारना उचित नहीं जँचता। यह एक सर्गबद्ध प्रबन्ध-काव्य है और इसे हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। पूर्वार्द्ध दुःखान्त है और उत्तरार्द्ध सुखान्त है। पूर्वार्द्ध निहालदे के जीवनोत्सर्ग के साथ-साथ समाप्त हो जाता है। पूर्वार्द्ध में कथानक की मार्मिकता इतनी असह्य और द्रावक हो गई है कि पाषाण हृदय भी पिघल जाता है। यही इस काव्य की सफलता है। निहालदे राजस्थानी साहित्य की अमूल्य निधि है और यह विश्व के किसी भी विरह-प्रधान काव्य की तुलना में निःसंकोच रखा जा सकता है। यह विरह की बलिदान-माला की वह सुमेरु मणि है जिसकी आभा से अन्य मणियाँ भी आलोकित हो उठती हैं। इसमें सांस्कृतिक चेतना तथा स्त्री-समाज के लिए आदर्श की प्रतिष्ठा है और है इसमें महाकाव्य की भाँति नारी-जाति के लिए अमर सन्देश। निहालदे प्रकाशन से राजस्थानी का गौरव तो बढ़ेगा ही, हिन्दी साहित्य में भी एक ज्वलंत नक्षत्र का उदय होगा।

श्री गणपति स्वामी ने 'निहालदे सुलतान' के पवाड़े के जो अंश अपने लेख में दिये हैं, उनकी भाषा शेखावाटी की है। संभव है कि शेखावाटी भाषा वाले पवाड़े को वे पूरे रूप में नहीं लिख पाये पर डॉ० कन्हैयालाल सहल ने जयदयालजी नाथ से सुनकर 'निहालदे सुलतान' के पवाड़े लिपिबद्ध करवा लिये हैं, उनकी भाषा नारनौली या तोरावाटी मालूम देती है। संगृहीत पवाड़ों का कुछ अंश 'मरुभारती' वर्ष ६, अंक १ में छपा था, फिर पवाड़ों की कथा का सारांश छपता रहा जो स्वतंत्र रूप से भी दो भागों में प्रकाशित हो चुका है। श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला का इस कथा-सम्बन्धी एक उपन्यास भी छप चुका है।

तीसरा बड़ा लोक-काव्य बगड़ावत है। प्रसिद्ध में बगड़ावत देवनारायण का

मन्दिर है। यहाँ के गूजर आदि बगड़ावत काव्य को कई दिनों तक गाया करते हैं। बगड़ावत काव्य का उल्लेख श्री हरप्रसाद शास्त्री ने एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल से प्रकाशित राजस्थानी साहित्य सम्बन्धी अपनी खोज-रिपोर्ट में भी किया है।

बगड़ावत काव्य को लिपिबद्ध करने का प्रयत्न कई व्यक्तियों ने किया है। रानी श्री लक्ष्मीकुमारी चूड़ावत ने 'मरुभारती' में प्राप्त अंश छपवाया है। 'देवजी की पड़' के नाम से यह ग्रन्थ नवयुग ग्रन्थ कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुआ है। श्री पुरुषोत्तमलाल मेनारिया से मैंने उनके नकल किया हुआ बगड़ावत का अंश मंगवाया था और बगड़ावत कथा के साथ उस अंश का कुछ उद्धरण मरुभारती' वर्ष ५ अंक २ में प्रकाशित किया था।

श्री दौलतसिंह लोढ़ा, कानसिंह रावत, नानालाल नाथ ने भी बगड़ावत को लिपिवद्ध करने का प्रयत्न किया था पर काव्य काफी बड़ा होने से संभवतः पूरा संगृहीत नहीं हो पाया। वास्तव में कई व्यक्तियों से सुनकर संगृहीत किये बिना पूरा संग्रह हो भी नहीं सकता। राजस्थान संगीत नाटक अकादमी, जोधपुर ने इस काव्य के गायकों द्वारा कुछ अंश रिकार्डिंग करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। लोक-काव्यों का संगीत की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व है। अलग-अलग काव्य अलग-अलग वाद्यों पर गाये जाते हैं। लोक-देवता गोगाजी व रामदेवजी सम्बन्धी भाषाएँ भी मिलती हैं।

महाभारत भी एक लोक-काव्य के रूप में राजस्थानी भाषा में गाया जाता है। उसके कुछ खण्ड भारतीय विद्या मन्दिर शोध संस्थान ने लिपिवद्ध किये हैं।

डूंगरपुर के ऐतिहासिक लोक-काव्य 'गलालैंग' को डॉ० एल० डी० जोशी ने संगृहीत कर रखा है। इस काव्य के सम्बन्ध में उनका एक लेख 'राजस्थान भारती' में अभी प्रकाशित हुआ है।

लोक-काव्यों को कई विद्वानों ने लोक-गाथा की संज्ञा भी दी है। राजस्थानी लोक-गाथाओं के सम्बन्ध में डॉ० के० कुमार ने संक्षेप में सुन्दर प्रकाश डाला है। ये लिखते हैं :

"राजस्थान लोक-गाथा की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। लोक-गाथा, लोक-साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। लोक-गाथा से हमारा तात्पर्य लोक-प्रबन्ध से है जिसमें एक विशाल कथा रहती है और जो गेय होता है। लोक-गीत में जहाँ जीवन की लघु भाव-लहरियाँ तरंगित होती हैं, लोक-गाथा में जीवन की समस्त भावधाराएँ उद्दाम वेग से प्रवाहित रहती हैं। लोक-गाथा का निर्माण ही वृहद् आदर्श की स्थापना और महान् चरित्र को प्रस्तुत करने के लिए होता है। राजस्थानी लोक-गाथा साहित्य अपने में पूर्ण है, जहाँ तक काव्यात्मक और साहित्यिक गुणों का प्रश्न है, संदेह को कोई स्थान नहीं। इन लोक-गाथाओं का वास्तविक महत्त्व तो सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टिकोण से है। राजस्थानी लोक-गाथाएँ, यहाँ की संस्कृति को सच्चे रूप में व्यक्त करती हैं। इनमें विषय की विविधता है। प्रत्येक अवसर, जीवन का प्रत्येक पहलू इनमें प्रकट हुआ है। वीर, शृंगार, करुण, हास्य, निर्वेद आदि मूल भावनाओं का सफल चित्रीकरण इन लोक-गाथाओं में है।

राजस्थानी लोक-गाथाओं का वर्गीकरण इन शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

(क) **वीरकथात्मक** : इस समूह में हम उन लोक-गाथाओं को रखते हैं, जिनका वर्ण्य कोई वीर है, ऐसा वीर जिसने परार्थ अथवा किसी प्रतिज्ञा अथवा किसी की रक्षा में प्राण न्यौछावर किये हों। राजस्थान में पाबूजी, गोगाजी, तेजाजी, बगड़ावत, गलालेंग, डूंगजी, ज्वारजी आदि ऐसी ही वीरकथात्मक लोक-गाथाएँ हैं। यह आवश्यक नहीं कि वीर के अतिरिक्त अन्य रसों का समावेश इनमें न हो। रस इनमें अन्य भी होते हैं पर प्रभाव की एकता की दृष्टि से प्रधानता करुणांत वीर की ही रहती है।

(ख) **प्रेमकथात्मक** : राजस्थान की प्रेमकथात्मक लोक-गाथाएँ अत्यन्त मधुर एवं भावपूर्ण हैं। शास्त्रीय रागों के आवरण में ये और भी हृदयद्रावक हो उठते हैं। काफ़ी, मांड, सोरठ आदि करुण-भाव प्रधान रागनियों का प्रयोग ही इन गाथाओं में होता है। प्रेम-गाथाओं के वर्ग में हम ढोला-मारू, जलाल-बूबना, सोरठ और नागजी-नागवती लोक-गाथाओं को रखते हैं। ढोला-मारू, जलाल-बूबना, सोरठ और नागजी के दोहे हमने स्वयं जोधपुर के श्री नूर मोहम्मद लंचा से सुने। अतएव ये चार अत्यन्त जीवन्त लोक-गाथाएँ हैं।

ढोला-मारू के सम्बन्ध में एक मतभेद है। कुछ व्यक्ति उसे आभिजात्य साहित्य की कृति मानते हैं। वास्तव में ऐसे व्यक्ति अपनी अल्प जानकारी का परिचय देते हैं। ढोला-मारू प्रेमगाथा के रूप में बहुत प्राचीन समय से प्रचलित है। आभिजात्य रूप की प्रेरणा का स्रोत भी यही लोक-प्रचलित कथा है। लोक में यह कुछ अनगढ़ रूप में थी, कुशललाभ कवि ने इसे संस्कृत रूप में प्रस्तुत किया।

(ग) **रोमाँच कथात्मक** : इस वर्ग में हम राजस्थानी लोकगाथा 'निहालदे सुलतान' को समादृत करते हैं। यद्यपि यह गाथा 'सुल्तान' के वीरतापूर्ण कार्यों से संबद्ध है, तथापि इसमें रोमांचपूर्ण अतिमानवीय तत्त्वों का समावेश अत्यधिक है, अतएव हमने इसे इस शीर्षक के अन्तर्गत रखा है। इस लोकगाथा का रूप श्रीयुत डॉ० सहल, पिलानी के पास सुरक्षित है।

(घ) **पौराणिक** : राजस्थान में पुराणों एवं महाभारत में लिखित गाथाएँ भी गायी जाती हैं। सच तो यह है कि पुराणों और महाभारत आदि में जो कथांश हैं वे लोक से ही संगृहीत हैं। हमारी यह मान्यता है कि पुराणों का विकास, लोक-मानवीय प्रवृत्तियों के आधार पर हुआ है, क्योंकि सभी आभिजात्य साहित्य के मूल लोक-साहित्य में होते हैं। लोक-आदर्शों का निरूपण इन पौराणिक लोक-गाथाओं में मिलता है। उदाहरण के लिए 'अहमदो' (अभिमन्यु) की गाथा ली जा सकती है। इसमें सुभद्रा और अर्जुन के विवाह के सम्बन्ध में एक और ही बात मिलती है। गाथा में बतलाया गया है कि सुभद्रा कौमार्यावस्था में ही गर्भवती हो गई थी, इसलिए कृष्ण ने अर्जुन से उसका विवाह सहमति से नहीं वरन् आग्रह पूर्वक कराया। हो सकता है, यही प्रसंग सच हो पर महाभारतकार ने ऐसा नहीं कहा है। राजस्थान में अब तक संगृहीत ऐसे काव्य जिनकी कथा महाभारत, पुराण आदि में हैं, इस प्रकार हैं—(१) पार्वती विवाह

ब्यावलो, (२) रुक्मिणी विवाह, (३) नरसी, (४) गणगौर, (५) आंबारस प्रसंग (आम्ररस), (६) भीमो भारत, (७) सैंत गैंडी, (८) द्रुपदा रो अवतार, (९) अहमदो आदि।

(ङ) निर्वेद कथात्मक : इस वर्ग में हम गोपीचन्द और भर्तृहरि लोक कथाओं को रखते हैं।

उपर्युक्त सभी लोक-गाथाओं के राजस्थान में विशेष गायक होते हैं। ये जोगी भोपा, लंघा आदि हैं। इनके अनेक इष्ट होते हैं। कोई-कोई गायक तो एक गाथा के अतिरिक्त अन्य गाथा गाते तक नहीं। ये सारंगी, इकतारा, रावणहत्था, डमरू आदि वाद्य-यंत्रों का उपयोग भी करते हैं। कई गाथाओं में लोक-चित्रपट (फड़) का प्रयोग भी होता है।

राजस्थानी लोकगाथा साहित्य उर्मिल अथाह सागर है। इसमें विविध रंगों की भावोर्मियाँ हैं। इसमें संस्कृति के अनमोल मुक्ता हैं। राजस्थानी लोक-गाथाएँ राजस्थान की गौरव-सामग्री है।

राजस्थानी लोक-गाथा साहित्य में राजस्थान की लोक-संस्कृति भली-भाँति व्यक्त हुई है। लोक-जीवन का पूर्ण चित्र लोक-गाथाओं में प्रकट हुआ है। राजस्थानी संस्कृति को विद्वानों ने वीर-संस्कृति कहा है। यहाँ के कण-कण में वीरों के बलिदान की कहानी अंकित है। इन वीरों के कुछ आदर्श हैं, ये आदर्श वीरों के सामान्य गुण हैं और सभी वीर इनका पालन अपना धर्म समझते हैं। लोक-गाथाओं में वर्णित ये धर्म इस प्रकार हैं—वचन-निर्वाह, गौ-रक्षा, स्त्री-रक्षा, असावधान (शरणागत, निःशस्त्र एवं विपन्न) शत्रु की अवध्यता, वत्सलता, युद्ध में अपराङ्मुखता और दानशीलता। लोक-गाथाओं में वर्णित वीर, प्राण देकर भी इन धर्मों का पालन करते हैं। वीर-संस्कृति के कुछ रीति और व्यवहार भी होते हैं जो वीरों में परम्परा से प्रचलित रहे हैं। युद्ध वीरों के लिए पर्व सदृश मंगलमय होता है। युद्ध में जाने से पूर्व उसी प्रकार साज-सज्जा करते हैं जिस प्रकार दूल्हा वधूगृह जाने से पूर्व। कुछ व्यवहार इस प्रकार है—पाँचों वस्त्र और पाँचों शस्त्र धारण करना, पत्नी द्वारा आरती उतारा जाना, अश्वरंजन बीड़ा डालना, धर्म-युद्ध करना, अमल और मदिरापान।

वीर संस्कृति के अतिरिक्त, राजस्थानी लोक-गाथाओं में समाज का भी चित्र है। इन लोक-गाथाओं में छत्तीस जातियों का उल्लेख है। लोगों के वर्णानुसार कार्य करने का वर्णन है। व्यापारी-वर्ग का अलग से उल्लेख है। समाज में अभिचार साधना के प्रचलित होने का संकेत है। लोक-गाथाओं में वर्णित सामाजिक रीतियाँ ये हैं—पुत्र-जन्म पर किये जाने वाले रीति-व्यवहार, विवाह, दूल्हे की वेशभूषा, विवाह-विधि, सती-प्रथा, त्योहार, राजस्थानी वेशभूषा, आभूषण-वर्णन (स्त्री और पुरुष) आदि। लोक-विश्वासों का भी विस्तृत विवरण इन लोक-गाथाओं में है।

अकृत्रिमता, लोक-गाथा की विशेषता है। साहित्यिक नियमों का पालन लोक-गाथाकार नहीं करता, तब भी अलंकार, रस, लोकोक्ति, मुहावरे आदि लोक-गाथाओं में हैं। पं० बालकृष्ण भट्ट के शब्दों में सच्ची कविता का लसरा इनमें है। इनकी दृष्टि

से राजस्थानी गाथाओं में तीन रस प्रमुख हैं—शृंगार, वीर और करुण। ये रस अपने प्रकृत रूप में प्रकट हुए हैं।

लोक-गाथाएँ लोक-मानस-अर्जित हैं। अतएव लोक-मानसीय प्रवृत्तियाँ भी लोक-गाथाओं में अनिवार्य रूप में मिलती हैं। लोक-मानवीय प्रवृत्ति का एक रूप अति-मानवीय क्रिया-कलाप और अलौकिक पात्रों का उपयोग है। इसीलिए लोक-गाथाओं में उड़ने वाले अश्व, मानव-वाणी में बोलते हुए शुक, मैना तथा दैत्य आदि मिलते हैं।" (सम्मेलन पत्रिका, म० प्र० सं० ४)

श्याम परमार ने अपने 'पुरानी वीर गाथाएँ और नये संदर्भ' नामक लेख में लिखा है—कुछ घटनाएँ अथवा गाथाएँ प्रान्तों के बाहर लोकप्रियता प्राप्त कर लेती हैं। ऐसी घटनाएँ युद्धगत कम किन्तु प्रेमविषय अधिक होती है। लेकिन लो घटनाएँ वीरदर्प से भरी होती हैं उन्हें भी भाषाओं की सीमाएँ बाँध कर नहीं रख सकतीं। वीरकाव्य में राजपूतों के तेवर इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। जैसलमेर और जोधपुर की सीमाओं के पास अमराणा नामक स्थान है। यहाँ के सोढ़ा किसी समय बहादुरी के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। उनकी राजधानी अमरकोट थी, जिसे बाद में मुसलमानों ने हथिया कर उसका नाम उमरकोट कर दिया। उमरकोट आजकल पाकिस्तान में है। प्रसिद्ध गाथा 'मूमल' का नायक महेन्द्र इसी स्थान का अधिपति था। सन् १८१३ में तालपुर के मीर ने सोढ़ाओं से अमरकोट छीन लिया था। बाद में यह स्थान अंग्रेजों ने ले लिया। सोढ़ा राजपूत सन् १८१३ से ही उसे पुनः प्राप्त करने के लिए युद्ध करते रहे। सन् १८५७ में राणा रतनसिंह ने सेना एकत्रकर इस स्थान को लेना चाहा और अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध ठान दिया। रतनसिंह से सम्बन्धित गीतकथा 'रतनराणो' आज भी छूती हुई धुन में अरावली की पहाड़ियों और अमराणा में सुनी जाती है। 'जयमल मेड़तिया', 'अमरसिंह राठौड़', 'दुर्गादास', 'आउवा ठाकुर', 'गोराहटजा', 'नत्थूसिंह देवड़ा', 'डूंगजी जवारजी' आदि कथाएँ राजस्थान के लंगे, भोपे और मिरासी गाते फिरते हैं। राजस्थान की एक और गाथा है—'बगड़ावत'। यह लम्बी रचना है, और बहुत कम लोग सम्पूर्ण गा पाते हैं। रावणहत्ता पर भोपे जब 'पड़' गाने बैठते हैं तो एक मध्यकालीन सामन्ती वातावरण इन गाथाओं के साथ उभर आता है।

कुछ गाथाएँ दूर तक पहुँचती हैं। जगदेव पँवार सम्बन्धी गाथा ब्रज, मालवा और राजस्थान में एक साथ प्रचलित हैं। उसके बिखरे कथा-वृत्त सौराष्ट्र और गढ़वाल में भी मिलते हैं। गढ़वाल में किसी समय परमारों का प्रभाव था। कत्यूरी के बाद वहाँ बारहवीं शताब्दी के आरम्भ में पँवारों का शासन हुआ। राजस्थान में प्राप्त गाथा में उल्लेख आया है कि जगदेव अनहिलवाड़ा पाटन के सिद्धराज जयसिंह (१२वीं शती) के यहाँ भृत्य था। उसकी जयसिंह से स्पर्द्धा हो गई। इस स्पर्धा का अन्त उसने चामुण्डा की उपासिका कंकाली को अपना शीश अर्पित करके किया। इसीलिए जगदेव नाम के साथ कहीं-कहीं कंकाली शब्द जोड़ा जाता है। हरियाना की एक गाथा 'भुरा बादल' राजस्थान से आयी है। इसपर अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण तथा पद्मिनी के लिए भीमसिंह को बन्दी बनाने के प्रसंगों की अपरोक्ष छाया स्पष्ट है।

७

राजस्थानी लोक-गीत

राजस्थान जितना विशाल है उसका साहित्य, विशेषकर लोक-गीतों की संख्या भी अति विशाल है। राजस्थान के कुछ भागों में जल की चाहे कमी रही हो पर भावों की रस-धार अजस्र रूप में सर्वत्र समभाव से बहती रही है। इन लोक-गीतों में अपने प्रान्त की कुछ मौलिक विशेषताएँ भी हैं, जैसे राजस्थान के पुरुष अपनी वीरता के लिए और नारियाँ अपने सतीत्व और तेजस्विता के लिए विख्यात हैं। अतः राजस्थानी साहित्य में वीर-रस का परिपाक और नारियों के उदात्त-चरित्र का वर्णन अधिक पाया जाना स्वाभाविक है। ऐसे वीर एवं उदात्त-चरित्र वाले व्यक्तियों के आदर एवं गुण-गान में, जन-हृदय का भी सदा साथ रहा है। इसलिए राजस्थानी लोक-गीतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे ऐतिहासिक व्यक्तियों से बहुत सम्बन्धित हैं।

कई वीर-पुरुष लोक-देवों के रूप में और नारियाँ देवियों के नाम से पूजी जाती हैं। उनके गीत विविध प्रसंगों में, मांगलिक कार्यों में, उत्सवों में सर्वप्रथम बड़े आदर के साथ गाये जाते हैं, अर्थात् गीत-ध्वनि के साथ ही उनका आरम्भ होता है।

प्राचीन लोक-गीत

लोक-गीतों की प्राचीनता तो मानव-जीवन की प्राचीनता जितनी ही है, पर उपलब्ध रूप में मौखिक रहने के कारण वे अधिक प्राचीन नहीं पाये जाते हैं। जो कुछ गीत परम्परा की दृष्टि से प्राचीन हैं, उनमें भी देश और काल के भेद से भाषा आदि में परिवर्तन हो ही जाता है, फिर भी यह गौरव के साथ कहा जा सकता है कि राजस्थान के प्राचीन लोक-गीतों की जितनी अधिक जानकारी आज हमें प्राप्त है उतनी भारत के अन्य किसी भू-भाग के गीतों की नहीं। इसका प्रधान कारण यह है कि जैन-मुनि सदा से लोक-जीवन से अधिकाधिक सम्बन्धित रहे हैं। वे जहाँ कहीं गये, वहाँ की लोक-भाषा और लोक-रुचि का आदर करते हुए अपना साहित्य-सर्जन सहज रूप में अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को लाभ पहुँचा सके, इस दृष्टिकोण से लोक-भाषा में जनता की रुचि को ध्यान में रखकर करते गये। सोलहवीं शताब्दी के आस-पास उन्होंने जन-साधारण की रुचि, लोक-गीतों के सुमधुर गायन की ओर अधिक आकर्षित देखी तो उन्होंने उन गीतों की तर्जों (ढालों) में रास आदि चरित-काव्य एवं औपदेशिक तथा भक्ति-काव्य

का निर्माण शुरू किया। जन-साधारण कौन-सी रचना को किस राग या लय में गाए, इसकी सूचना के रूप में उन्होंने अपनी रचनाओं के प्रारम्भ में अमुक गीत की 'देशी' या 'ढाल-एहनी' इन शब्दों द्वारा, जिस लोक-गीत की तर्ज में उसकी रचना हुई उसकी प्रथम पंक्ति का निर्देश कर दिया है। जिस प्रकार शिष्ट-साहित्य में एक ही साथ अनेक प्रकार के छन्द प्रयुक्त होते हैं और उनका नाम-निर्देश यथा-स्थान किया जाता है, उसी प्रकार जैन-कवियों के रचित रास आदि में अनेक ढालें रहती थीं, और वे विविध लोक-गीतों की लय में गायी जाती थी, उनका सूचन किया गया मिलता है। स्वर्गीय जैन-साहित्य-महारथी मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने जैन गुर्जर कवियों के तीसरे भाग के परिशिष्ट नं० ७ में जैन-रासादि ग्रन्थों में प्रयुक्त चौबीस सौ पचास (२४५०) देशियों (तर्जों) की अनुक्रमणिका दी है। इनमें राजस्थानी लोक-गीतों की अधिकता है। इस अनुक्रमणिका से हमें दो महत्त्वपूर्ण बातों की जानकारी मिलती है; (१) प्राप्त लोक-गीतों में से कौन-से गीत कितने प्राचीन हैं और (२) प्राचीन लोक-गीत अब तक कितने भुलाये जा चुके हैं। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस सूची से हमारे सैकड़ों विस्तृत लोक-गीतों का प्रारम्भिक एवं मुख्य अंश जैन-कवियों की कृपा से हमें आज भी सुरक्षित मिल रहा है। पूर्ण रूप में न सही, पर जितने अंश को उन्होंने अपनी रचनाओं में उद्धृत कर रखा है उतने अंश की प्राप्ति भी हमारे लिए तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उनकी जानकारी का हमें अन्य कोई साधन प्राप्त नहीं है।

इन लोक-गीतों की देशियों के उद्धरण के रूप में जैन-कवियों ने आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व, लोक-गीतों के संग्रह का कार्य आंशिक रूप से प्रारम्भ किया। लोक-गीतों के प्रति उनका यह आदर निःसंदेह एक उल्लेखनीय बात है। सत्रहवीं शताब्दी में इस ओर अधिक ध्यान दिया गया। सैकड़ों लोक-गीतों की देशियों (तर्जों व ढालों) में जैन-कवियों ने छोटी-मोटी प्रचुर रचनाएँ कीं। अठारहवीं, उन्नीसवीं और कुछ अंशों में बीसवीं शताब्दी में भी यह क्रम जारी रहा और तब से अब तक भी है।

उन्नीसवीं शताब्दी में जैन-यतियों के लिखे हुए कई पूरे लोक-गीत भी मिलते हैं। सम्भवतः विदेशी विद्वानों के प्रयत्नों के पूर्व, लोक-गीतों का संग्रह जैन-यतियों के अतिरिक्त किसी ने नहीं किया। जो लोग कहते हैं कि विदेशी विद्वानों ने भारतीय लोक-गीतों के संग्रह का काम प्रारम्भ किया, उनको इस प्रयत्न से अवश्य ही नई जानकारी मिलेगी।

हमारे संग्रह में कुछ पुराने लोक-गीत पूरे रूप में लिखे हुए मिले हैं। उनमें से कुछ जैन-गुर्जर कवियों की उपर्युक्त देशियों की अनुक्रमणिका के अन्त में दिये गये हैं। 'उमादेवी भटियाणी' का ऐतिहासिक गीत जो कि तीन सौ वर्ष से भी अधिक पुराना है, दो सौ वर्ष पूर्व के लिखे एक पत्र में लिखा प्राप्त हुआ है। इसके सम्बन्ध में मेरा एक निबन्ध 'अजन्ता' में प्रकाशित हो चुका है। इसी प्रकार का एक अन्य गीत 'फत्तमल्ल का गीत' मोतीचन्द जी खजांची के गुटके में करीब सवा सौ-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व का लिखा हुआ प्राप्त हुआ है, जिसे 'मरुभारती' में मैंने छपवा दिया है। 'गोपीचन्द' का एक गीत भी 'अजन्ता' में प्रकाशित किया गया है।

लोक-साहित्य विश्व-एकता का प्रतीक है। विश्व के मानवों में बहुत-से भाव प्रायः एक-जैसे ही उठते हैं। सुख, दुःख, हर्ष, शोक—सभी के संवेदन का विषय है, चाहे सम्पन्न हो या विपन्न, किसी के विरह या मरण से दुःख होना, विवाह में आनन्द मनाना, पुत्र-जन्म में हर्षोल्लास, त्योहार, मेला, यात्रादि में प्रसन्नता जैसे बहुत-से भाव सभी के हृदय को एक-सा आन्दोलित करते दिखाई देते हैं। इसलिए लोक-साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की नितान्त आवश्यकता है। इसके द्वारा हम एक-दूसरे के निकट पहुँचने में अधिक सफल होंगे।

लोक-गीत विश्व के सभी क्षेत्रों में बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं। बहुत-कुछ समानता होते हुए भी क्षेत्रीय विशेषताएँ भी रहती हैं और उसी को लेकर राजस्थानी लोक-गीत या गुजराती लोक-गीतादि पृथक्-पृथक् नाम दिये जाते हैं। लोक-गीत अनेक प्रकार के होते हैं। प्रमुखतया देवी-देवताओं, जन्म-विवाह आदि विविध संस्कारों, त्योहार, उत्सव, पारिवारिक-जीवन, दाम्पत्य-प्रेम, वर्षा-वसन्तादि ऋतुओं के गीत अधिक मिलते हैं। इनमें से कई गीतों में कल्पना की उड़ान और उपमाओं की छटा देखते ही बनती है। बड़े-बड़े कवियों की दृष्टि में जो बातें नहीं आतीं वे जन-साधारण के गीतों में देखकर सचमुच ही बड़ा आश्चर्य होता है।

लोक-गीतों में संगीत की प्रधानता रहती है पर कई गीतों का सम्बन्ध नृत्य से भी है। राजस्थान में घूमर, डांडिया, रास आदि नृत्य के साथ गाये जाते हैं जिनमें वाद्य-यन्त्रों का प्रयोग भी होता है। राजस्थानी लोक-गीत संख्या में बहुत विशाल हैं। लगभग पन्द्रह-बीस हजार लोक-गीत तो लिपिबद्ध भी किए जा चुके हैं मौखिक-गीतों की संख्या करना सम्भव नहीं। कई तो बहुत ही प्रसिद्ध और लोकप्रिय हैं। पनिहारी, मूमल, पींपली, कोयल, आंबो मोरियो ऐसे ही गीत हैं। नमूने के तौर पर यहाँ कुछ गीत प्रस्तुत किये जाते हैं—

दाम्पत्य प्रेम का गीत

चांदा ! थारी चानणी सी रात,
चांदे रे चानणिये ढोलो आवियो जी राज।
ऊभी धण डागलिया पर जाय,
खड़ी ए निहारै मारग स्वाम रो जी राज।
कांकड़ वडतां गाज्यो मारूजी रो ऊंट,
जद रे पिछाणी बोली ऊंट री जी राज।
फड़की फड़की डावी धण री आँख,
हरख्यो हरख्यो मारुणी रो जीवड़ो जी राज।
गोवै वड़ताँ दीसी मारूजी री पाग,
पाग पिछाणी धण केसर्‌या जी राज।

जद आयो ढोलो फलसै रै वार,
जद अे पिछाणी सूरत सांवली जी राज।
खुड़क्या खुड़क्या पोली रा किवाड़,
टग टग घण डागलियै सूँ ऊतरी जी राज।
खोल्या खोल्या पोली रा किवाड़,
पूठ फोर धण वा खड़ी जी राज।
बोल्यो बोल्यो ढोलो मीठा सा बोल,
कुण रे खिजायी म्हांरी गोरड़ी जी राज।

भावार्थ—हे चन्द्र ! तेरी उजली चाँदनी रात में प्रिय आया और—प्रिया छत पर जाकर खड़ी-खड़ी स्वामी के मार्ग की ओर देख रही थी। सीमा में प्रविष्ट गरजते हुए प्रिय के ऊँट की बोली पहचान ली, प्रिया की बाँयी आँख फड़की। उसका हिया हर्षित हुआ। ग्वाड़ में प्रविष्ट होते ही प्रिया ने प्रिय की केसरिया पगड़ी पहचान ली, जब वह फलसे पर आया तो उसकी साँवली सूरत को पहचान लिया। पोली के किवाड़ों की खट-खटाहट सुनकर वह टग-टग करती हुई छत से उतरी, उसने पोली के किवाड़ खोले और पीठ देकर खड़ी हो गई। तब प्रिय ने मीठी वाणी में कहा—मेरी गोरी को किसने खिजा दिया ?

विरह गीत—ओलुं

म्हारा राजीड़ा री छिन-छिन ओलुं आवै।
जद मैं जाऊँ राम-रसोयां, साजन री सुध आवै।
कुण जीमै मेरी राम-रसोयां, कुण मेरो भोजन सरावै ? म्हारा० १
लेय दो घड़ जद पणघट जाऊँ, साजन री सुध आवै,
कुण झेलै मेरो सोवन कलसो, कुण मोय माट उठावै ? म्हारा० २
जद मैं जाऊँ भूरी दुयवा, साजन री सुध आवै,
कुण पकड़ै मेरी बाली पाडी, कुण मोय दूध दुवावै ? म्हारा० ३
जद मैं जाऊँ रंग री मेड्यां, साजन री सुध आवै,
कुण बूझै सुख दुख री बातां, कुण हंस हस बतलावै ? म्हारा० ४
टप टप टपकै नैण दीरघड़ा, हिवड़ो भर भर आवै। म्हारा० ५

भावार्थ—मेरे राजा की पल-पल में याद आती है। जब मैं राजसी रसोई में जाती हूँ तब प्रिय की याद आती है। मेरी राजसी रसोई को कौन जीमे ? कौन मेरे भोजन को सराहे ? जब मैं दो घड़े लेकर पनघट जाती हूँ तब प्रिय की याद आती है। मेरे सोने के कलशे को कौन पकड़े ? कौन मेरी मटकी उठाकर दे ? जब मैं भूरी भैंस को दुहने जाती हूँ तब प्रिय की याद आती है। मेरी छोटी पाडी को कौन पकड़े ? और कौन मुझे दूध दूहने में सहायता करे ? जब रंग-महल में जाती हूँ तो प्रिय की याद

आती है। मेरे दुःख-सुख की बातें कौन मेरे से पूछे ? कौन हँस-हँसकर बात करे ? बड़ी-बड़ी आँखें आँसू बरसाती हैं, हृदय भर-भर आता है, मेरे राजेन्द्र की पल-पल याद आती है।

प्रियतमा अपने स्वामी को काक के हाथ सन्देश कहलाती है :—

गोरी तो बैठी रे झूरं मेड़ियाँ,
स्याम समंदरा जी पार,
काला रे कागा एक सनेसो रे पिव नै जाय कहो।
खाबो तो पीबो थारी धण छोड्यो,
छोड़ी छै जीवा केरी-आस,
मिलणो हुवे तो जी ढोला थे मिलो,
दिन दिन पींजर हुती जाय। म्हारा काला रे०।

भावार्थ—महलों में पत्नी विरह से व्याकुल है, तड़प रही है। उसका पति समुद्रों के पार है। हे काले काग ! एक सन्देश ले जाना पीव से कहना। तुम्हारी पत्नी ने खाना-पीना छोड़ दिया है—उसने जीवन की आशा भी अब छोड़ दी है। वह दिन-दिन (थककर) पिंजर हुए जा रही है।

८

राजस्थानी लोक-गीतों के उल्लेखनीय संग्रह-ग्रन्थ

जहाँ तक मेरी जानकारी है, राजस्थानी या मारवाड़ी लोक-गीतों का संग्रह-ग्रन्थों का प्रकाशन भी कलकत्ता से ही प्रारम्भ हुआ। सन् १९१४ में खेतराम माली संगृहीत और रामलाल नेमाणी के राम प्रेस से प्रकाशित 'मारवाड़ी गीत संग्रह' मारवाड़ी गीतों का सब से पहला संग्रह है। इसमें १०२ लोक-गीत पाँच भागों और २३६ पृष्ठों में छपे थे। इसमें यथास्थान कई चित्र भी दिये गए। दूसरा संग्रह बैजनाथ केड़िया ने हिन्दी पुस्तक एजेन्सी द्वारा दस भागों में 'मारवाड़ी गीत संग्रह' के नाम से प्रकाशित किया। तीसरा संग्रह विद्यावरी देवी संगृहीत, बम्बई पुस्तक एजेन्सी ने आठ भागों में 'असली मारवाड़ी गीत संग्रह' नाम से निकला। ये संग्रह साधारण कोटि के हैं। सबसे अच्छा संग्रह भी सन् १९३८ में कलकत्ता से ही निकला है। राजस्थान रिसर्च सोसायटी, कलकत्ता से बीकानेर के प्रतिष्ठित विद्वान् त्रय द्वारा सम्पादित २३० गीतों का यह संग्रह 'राजस्थान के लोक-गीत' के नाम से दो भागों में निकला। अनेक दृष्टियों से यह संकलन बहुत महत्त्वपूर्ण है। आज भी उसकी उपयोगिता अन्य अनेक संग्रहों के निकल जाने पर भी बनी हुई है।

इसी तरह का पर इससे काफी छोटा संग्रह श्री जगदीशसिंह गहलोत ने 'मारवाड़ के ग्राम-गीत' नाम से जोधपुर से संवत् १९८९ में निकाला, इसमें सौ गीत हैं, इसका सुसम्पादित तथा नया संस्करण 'राजस्थानी लोक-गीत' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

स्वर्गीय सूर्यकरण पारीक ने राजस्थानी लोक-गीतों पर एक अध्ययनपूर्ण पुस्तक लिखी जो 'राजस्थान लोक-गीत' के नाम से हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित हुई। पारीकजी की स्मृति में 'राजस्थान के ग्राम-गीत' पहला भाग संवत् १९९७ में गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा से प्रकाशित हुआ जिसमें ९७ गीत हैं।

जैसलमेर, बीकानेर, जयपुर आदि से कई राजस्थानी लोक-गीतों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं। श्री विजयदान देथा, श्री पुरुषोत्तमलाल मेनारिया और रानी लक्ष्मी-कुमारी चूड़ावत ने भी राजस्थानी लोक-गीतों के सुन्दर संग्रह निकाले हैं। लोक-गीतों की तर्ज में श्री अमृतलाल माथुर ने 'रामरस' नामक रामकथा लिखी एवं बहुत-से राष्ट्रीय जागरण और समाज-सुधार के गीत भी प्रसिद्ध लोक-गीतों की तर्ज पर लिखे गए और प्रचारित हुए। लोक-गीतों की स्वरलिपि—संगीत—सम्बन्धी भी दो ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

पुष्करणा और श्रीमाली जाति में प्रचलित लोक-गीतों के दो संग्रह जोधपुर से बड़े अच्छे निकले हैं। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने शेखावाटी और बीकानेर प्रदेश के लोक-गीतों का संग्रह किया था। उनका एक छोटा संग्रह 'मारवाड़ के मनोहर गीत' प्रकाशित हुआ है। जैसलमेर के 'राजस्थान संगीत' और 'जैसलमेरी संगीत-रत्नाकर' भी अच्छे हैं।

लोक-गीतों की तरह लोक-भजन भी हजारों की संख्या में प्राप्त और प्रकाशित हैं। उनका भी सबसे बड़ा संग्रह कलकत्ता से ही 'मारवाड़ी भजन-सागर' नाम से प्रकाशित हुआ था।

लोक-कथाएँ

लोक-गाथा-काव्यों, गीतों एवं भजनों के बाद लोक-साहित्य का प्रमुख अंग है है लोक-कथाएं। राजस्थान में ऐसी लिखित व मौखिक रूप में हजारों कथाएँ प्राप्त हैं जो विविध प्रकार की हैं। मेरे विद्वान् मित्र नरोत्तमदास स्वामी ने राजस्थानी लोक-कथाओं के सम्बन्ध में लिखा है :—

राजस्थान में कहानी कथन ने एक कला का रूप धारण कर लिया था। अनेक व्यक्तियों ने इसे धंधे के रूप में ग्रहण किया। ढाढी जाति ने इस विषय में काफी निपुणता प्राप्त की। बड़े खेद की बात है कि उपयुक्त आश्रय के अभाव से अब इस कला का शीघ्रता से लोप होता जा रहा है। कहानी कहने वाले वैसे कलाकार अब साधारणतया दिखाई नहीं पड़ते।

अन्यान्य प्रदेशों की भाँति राजस्थान की कहानियाँ भी रात के समय में कही जाती हैं। कहानी सुनने के लिए अवकाश या खाली समय की आवश्यकता होती है। रात के समय लोगों को अवकाश रहता है। वर्तमान काल के व्यस्त जीवन में अवकाश का दिनोंदिन अभाव होता जा रहा है और उनके साथ-साथ कहानियों का युग भी समाप्त होता जा रहा है।

कहानी के वक्ता—श्रोताओं को तीन कोटियों में रख सकते हैं—(१) दादी, नानी या घर की कोई बडेरी और बच्चे, (२) गाँव या मुहल्ले के लोग और वहाँ का कोई कहानी कहने वाला जो कभी-कभी पेशेवर भी होता है और (३) राजा, रईस और कहानी कहने वाला प्रायः ढाढी पेशेवर जाति का होता है।

सबसे पहले घर के भीतर चलिये। घर के लोग भोजन करके निवृत्त हो चुके हैं। बच्चों ने बूढ़ी दादी या नानी और नहीं तो माँ को ही घेर लिया है और बात कहने के लिए आग्रह किया जा रहा है (राजस्थानी में कहानी को बात कहते हैं)। अलग-अलग फरमाइश होती है। कोई भींटिये की कहानी चाहता है, तो कोई चिड़ी कागले की, कोई टमरक टूं की, तो कोई केर के काँटे की, कोई लालजी-फूलजी की, तो कोई अनारदे राणी की, कोई भाग्य और अक्ल की, तो कोई दही वाटियो लावै की। दादी एक कहानी कहती है पर बच्चे उतने से संतुष्ट नहीं होते। दादी ! एक और। दादी एक और कहानी सुनाती है पर बच्चों की 'दादी, एक और' का अन्त नहीं आता। जब तक नींद नहीं आने लगती या यों कहिए कि आ नहीं जाती तब तक दादी

का छुटकारा नहीं होता। पर दादी के पास भी जैसे कहानियों का अक्षय कोष होता है। कहानी के अन्त में दादी ये शब्द बोलती है—

इत्ती बात, इत्ती बात, लाधू ने लाध्यो एक टट्टू,
टट्टू कह्यो हुस, लाधू कह्यो—बाड़ में घुस।

घर के भीतर के वक्ता—श्रोताओं को आपने देखा। अब मुहल्ले या गाँव के चौक में चलिये। रात को, विशेषकर शीतकाल में जब रातें लम्बी होती हैं, व्यालू के बाद अड़ोस-पड़ोस के लोग एकत्र हो गए हैं। बीच में धूनी जल रही है। इधर-उधर की चर्चा के पश्चात् कहानी का रंग जमता है। एक व्यक्ति कहानी आरम्भ करता है। श्रोताओं में से एक हुँकारा देता जाता है। हुँकारा देना आवश्यक है। हुँकारा इस बात का सूचक है कि श्रोता कहानी के प्रति सजग है। हुँकारा, कहने वाले के उत्साह को बनाये रखता है। कहावत है—'बात में हुँकारो, फौज में नगारो।' कहानी में हुँकारे का वही महत्त्व है जो फौज में नगारे का। कहीं-कहीं बात कहने वाला बात का आरम्भ इस प्रकार करता है—"बात में हुँकारो, फौज में नगारो, बात कहंता बार लागै, हुँकारे बात मीठी लागै, आधाक सोवै आधाक जागै, सोंवता री पागड़ी, जागता ले भागै, रामजी भला दिन देवै तो एक राजा हो···"

चौक के आगे अब रइसों के रंगमहल में चलिरे। सरदार पोढ़े हैं। आस-पास दो-चार, दस-बारह आदमी भी संभवत: बैठे हैं। कहानी कहने वाले ने अपनी कहानी आरम्भ कर दी है। कहानी कहने की कला में वह एक ही है। केवल कहानी कहने में कला नहीं होती किन्तु स्वयं कहानी में कला अपने पूरे सौन्दर्य के साथ उभरती है। ये कहानियाँ प्राय: लम्बी होती हैं, कभी-कभी तो वे कई दिनों तक चलती हैं। कहानी का आरम्भ एक लम्बी-चौड़ी भूमिका से होता है जो बड़ी चटपटी होती है। कहानी की सजावट का क्या कहना? बीच-बीच में दोहे पद्य आदि भी आते रहते हैं। प्रसंगानुसार बीच-बीच में लच्छेदार वर्णन आते हैं। बारात का वर्णन आया तो बड़े ठाट-बाट के साथ वर्णन किया गया। नायिका का उल्लेख हुआ तो उसके रूप-रंग और सौन्दर्य का वर्णन बड़ी चटक-मटक के साथ किया गया। ऋतु का प्रसंग आया तो वर्णन इस प्रकार किया जायेगा कि बस समा ही बँध जायेगा। वर्णन करते-करते कहने वाला प्रवाह में बह जायेगा, श्रोताओं का तो कहना ही क्या? भावपूर्ण स्थलों में भाषा में एक निराली उछल आ जाती है, अनुप्रास, तुक और एक-से जोड़ेवाले वाक्यों की एवं दूसरे अलंकारों की झड़ी लग जायगी। कथा को सुनते-सुनते श्रोतागण सुधबुध भूलकर कथा के अद्भुत और अलौकिक वातावरण में पहुँच जाते हैं। उदाहरण के लिए वर्षाऋतु का एक वर्णन लीजिये—

"वरखा रुति लागी, विरहणी जागी। आभा झर हरै, वीजां आवास करे। नदी टेवा खावे, समुद्रे न समावे। पहाड़ा पाखर पड़ी। घटा उपड़ी, मोर सोर मंडे, इन्द्र धार न खडे। आभो गाजै, सारंग वाजै। दवादस मेघ नै दूवो हुवो छै। सो दुखियारी री आँख हुवो। दादुरा डहडहै, सावण आणवैरी सिध कहै। इसो समइयो वण रह्यो छै।

* * *

वरखा मंडने रही छै, बीजली झिलोमिल करने रयी छै, बादला झड़ लायो छै, सिहरा-सिहरा बाज चमक रही छै, जाणे कुलटा नायका घर सूं नीसर अंग दिखाय दूसरे घर प्रवेश करैं छै।

मोर कुहकैं छै। भाखराँ रा नाडा बोलने रया छै, पानी नाडा भरनै रया छै, वनसपति सूं वेलां लपटनै रयी छै, गाज अवाज हुय न रयी छै, जाणै घटा छणै हरख सूं जमीं सू मिलण आयी छै।"

लोक-कथाएँ पद्यात्मक भी होती हैं और गद्यात्मक भी। पद्य-कथाओं को हम गाथाएँ कहेंगे। वे उपयुक्त वाद्यों के साथ गाकर मेले-जैसे अवसरों पर एकत्र हुए श्रोता-समाज को सुनायी जाती हैं। ऐसी कथाओं को लोक-गाथा कहना अधिक उपयुक्त होगा, उनका विचार हम यहाँ नहीं करेंगे। गद्यात्मक कथाओं के बीच-बीच में भी कभी-कभी बराबर पद्य आते रहते हैं।

राजस्थानी लोक-गाथाओं को हम पाँच भागों में बाँट सकते हैं—

(१) धार्मिक लोक-कथाएँ (२) ऐतिहासिक और अर्ध-ऐतिहासिक लोककथाएँ (३) अद्भुत कथाएँ (४) जन्तु कथाएँ (५) कहावतों और प्रवादों की कथाएँ।

इनमें से राजस्थानी व्रत कथाओं का एक संग्रह शार्दूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट से प्रकाशित हुआ है। सेखावाटी बोली का एक अन्य व्रत कथा सम्बन्धी ग्रंथ श्रीमती राजगढ़िया का कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है। ऐतिहासिक लोक-कथाओं के भी कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। प्रवादों के संग्रह डॉ० कन्हैयालाल सहल के प्रकाशित हो चुके हैं। लोक-कथाओं की कथानक रूढ़ियों के सम्बन्ध में भी डॉ० सहल ने उल्लेखनीय कार्य किया है। डॉ० मनोहर शर्मा ने राजस्थानी बातों के सम्बन्ध में शोध-प्रबन्ध लिखा है। 'राजस्थानी लोक-कथाएँ' नामक डॉ० शर्मा का निबन्ध 'राजस्थान-भारती' भाग ३, अंक ४ में प्रकाशित है।

राजस्थानी कहावतें

कहावत लोक-साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसमें लोक-जीवन का अनुभव सूत्र के रूप में थोड़े शब्दों में सहज ही प्राप्त हो जाता है। कई कहावतें बहुत ही मार्मिक, बहुत ही सारगर्भित, उपयोगी सूचनाएँ और शिक्षाएँ देती हैं। जो शिक्षा बड़े बड़े ग्रंथों में नहीं मिलती वह छोटी-सी कहावत से मिल जाती है। ग्रामीण लोग बात-चीत में कहावतों का प्रयोग करके अपने कथन को प्रमाण-सिद्ध करते हैं। कहावतें कई प्रकार की होती हैं। विषय-विभाजन और बाहरी रूप-रंग की दृष्टि से उनके कई विभाग किये जा सकते हैं। कई दोहों का आधा अंश कहावत के रूप में प्रसिद्ध हो जाता है और प्रसिद्ध कहावतों के पादपूर्ति रूप में भी सैंकड़ों दोहे राजस्थान में लिखे गये हैं, उन दोहों को 'अधूरा पूरा' की संज्ञा दी गई है। ऐसे बहुत-से दोहे 'मरु-भारती' और 'राजस्थानी वीर' में छपे हैं। बहुत-सी कहावतों के पीछे कहानियाँ भी प्रचलित हैं। डॉ० मनोहर शर्मा ने ४७५ कहावतों की संक्षिप्त सूचना अपने लेख में प्रकाशित की

है। 'राजस्थानी कहावतों का उद्गम' शीर्षक यह लेख 'राजस्थान भारती' भाग ५, अंक–२, में प्रकाशित है। हस्तलिखित प्रतियों में कई 'आर वाणी री वारता' नाम से कहावतों की कहानियाँ लिखी मिलती हैं। अब कतिपय राजस्थानी कहावतें उदाहरणार्थ प्रस्तुत की जा रही हैं—

१. अकल उधारी ना मिलै, हेत न हाट विकाय।
२. अजाण र आँधो बरावर।
३. आज ह्याँ तो काल त्याँ।
४. ऊंतावला सो बावला।
५. जाण है जठे माण है।
६. आपरी जांघ ऊघाडवाँ आपने ही लाज।
७. आपरी नरमाई पेलै नै खावै।
८. आँधो नैतै दोय जीमावै।
९. ऊगसी जिको आथमसी।
१०. एक दिन पावणो, दूजे दिन अणखावणो।
११. एक सुं दो भला।
१२. एक हाथ सुं ताली को बाजैनी।
१३. ओछी पूंजी धणी ने खाय।
१४. कीरत हंदा कोटड़ा पाड्या नहीं पडंत।
१५. गई वात नै घोड़ाइ को नावड़ै नी।
१६. गई तिथ बामण-इ को बाँचे नी।
१७. घर बलती को दीसै नी, डुंगर बलती दीस जाय।
१८. चढणो जितो इ उतरणो।
१९. चढसी सो पड़सी।
२०. चाम प्यारा नहीं काम प्यारा है।
२१. चोर रा पग काचा।
२२. पांचारी लकड़ी, एकै रो भारो। पांचा री लात एकै रो गारो॥
२३. खाया सोई ऊबर्या, दिया सोइ साथ।
२४. आपरी लाज आपरे हाथ।
२५. ऊजलो ऊजलो सौ दूध को हुवैनी।
२६. एक नकारो सौ दुख हरै।
२७. एक म्यान में दो तलवार को खटावैनी।
२८. जिके घर में साल मता, कुसल कठै सुं होय।
२९. औसाण आवै जिको इ हथियार।
३०. कमजोर गुस्सा जादा।
३१. कमाऊ आवै डरतो, अणकमाऊ आवै लड़तो।
३२. कर्महीण खेती करे, बलध मरै का काल पड़ै।

राजस्थानी कहावतों के कई संग्रह-ग्रन्थ निकल चुके हैं और 'मरुभारती में भी सैकड़ों कहावतें छपी हैं। कुल मिलाकर करीब एक हजार कहावतें प्रकाशित हो चुकी हैं।

राजस्थान के लोक-साहित्य के संग्रह एवं प्रकाशन के सम्बन्ध में कई व्यक्तियों की सेवाएँ बहुत ही उल्लेखनीय हैं। श्री मनोहर शर्मा, महेन्द्र भनावत, डॉ० कन्हैयालाल सहल, गोविन्द अग्रवाल, श्री नरोत्तमदास स्वामी, रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत, श्री पुरुषोत्तमलाल मेनारिया आदि अनेक व्यक्तियों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। राजस्थान की पत्र-पत्रिकाओं में यहाँ के लोक-साहित्य सम्बन्धी बहुत ही मूल्यवान सामग्री छपी है। 'मरुभारती', 'वरदा', 'शोध-पत्रिका', 'राजस्थान-भारती', 'परम्परा', 'मरुवाणी', 'प्रेरणा' आदि पत्रिकाएँ इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं।

लोक-गीतों की तरह लोक-कथाओं का भी राजस्थान एक विशाल भण्डार है। जैन-कवियों ने तो शताब्दियों से इन कथाओं को धर्म-प्रचार का माध्यम बनाते हुए बहुत-से काव्य रचे हैं। गद्य में भी सैकड़ों राजस्थानी बातें लिखी हुई मिलती हैं। ये बातें विविध प्रकार की और बड़ी रोचक हैं। इनके कुछ संग्रह साहित्य-संस्थान, उदयपुर; राजस्थानी शोध-संस्थान, जोधपुर, आदि से निकले हैं। रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत ने बहुत-सी बातों को अपनी भाषा-शैली में लिखकर कई ग्रन्थ छपवाये हैं। मौखिक बातें हज़ारों हैं, इनमें से एक हजार का संग्रह चुरू के श्री गोविन्द अग्रवाल ने किया और उनमें से अधिकांश 'मरुभारती' में छप गई हैं। भारती भण्डार इलाहाबाद से उनके दो ग्रन्थ भी छप चुके हैं। श्री विजयदान देथा का लोक-कथाओं का संग्रह व लेख-प्रकाशन कार्य भी बहुत उल्लेखनीय है। 'बातों की फुलवारी' नाम से उनके चार भाग निकल चुके हैं।

राजस्थानी कहावतों की संख्या भी बीस-पच्चीस हजार से कम न होगी। मुहावरों की संख्या तो इससे और भी अधिक है। राजस्थानी कहावतों के कई संग्रह निकल चुके हैं। जिनमें श्री नरोत्तमदास स्वामी और मुरलीधर व्यास संगृहीत ढाई हजार कहावतों के दो भाग राजस्थानी साहित्य परिषद, कलकत्ता से प्रकाशित हुए। डॉ० कन्हैयालाल सहल ने कहावतों पर शोध-प्रबन्ध लिखा है और कहावतों का एक संग्रह ग्रन्थ भी निकाला है। हाडोती कहावतों का एक अच्छा संग्रह कोटा से प्रकाशित हुआ है। इन दिनों डॉ० सहलजी लोक-कथा के अभिप्रायों पर काफी लिख रहे हैं। राजस्थानी पहेलियों—हीयाली, आडी, गूढा आदि कई प्रकार की हजारों की संख्या में मिलती हैं। उनमें से एक 'आडी संग्रह' निकला था और हीयालियों का एक बड़ा संग्रह हमने तैयार कर रखा है।

राजस्थानी लोकसाहित्य की एक महत्त्वपूर्ण सूची मैंने 'परम्परा' के लोक-साहित्य अंक में प्रकाशित कराई है।

९

राजस्थान में रचित हिन्दी-साहित्य

हिन्दी भाषा को जो आज राष्ट्र-भाषा का गौरवपूर्ण पद प्राप्त है वह उसके दीर्घकालीन और विस्तृत क्षेत्रीय व्यापक प्रचार के कारण है। हिन्दी-भाषी प्रदेशों के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों में भी शताब्दियों से हिन्दी-साहित्य का निर्माण होता रहा है, कहीं कम, कहीं ज्यादा। सन्तों और भक्तजनों के द्वारा हिन्दी के प्रचार को बहुत बल मिला। हिन्दी के पद—भजनों ने अन्य प्रान्तीय लोगों को भी काफी आकृष्ट किया, फलत: प्रान्तीय भाषा के साथ-साथ अन्य प्रदेश के लोगों ने हिन्दी में भी बहुत-सी रचनाएँ बनाई हैं। महाराष्ट्र, पंजाब, गुजरात, राजस्थान आदि प्रदेशों की हिन्दी-साहित्य सेवा बहुत ही उल्लेखनीय है।

राजस्थान में प्रमुखतया राजस्थानी भाषा का प्रचार रहा है पर राजस्थान का कुछ भाग हिन्दी-भाषा-भाषी भी है। वहाँ तो हिन्दी-साहित्य का निर्माण होना स्वाभाविक ही है, पर जहाँ की भाषा राजस्थानी है वहाँ भी हिन्दी के मध्यकालीन व्यापक प्रभाव के कारण राजस्थानी के साथ-साथ हिन्दी के मध्यकालीन व्यापक प्रभाव के कारण राजस्थानी के साथ-साथ हिन्दी साहित्य का निर्माण भी होता रहा है। राजस्थानी साहित्य के प्रमुख निर्माता जैन और चारण कवियों ने राजस्थानी लिखने के साथ-साथ हिन्दी में भी छोटी-बड़ी प्रचुर रचनाएँ बनायी हैं। यह हिन्दी के विशेष प्रभाव का ही परिणाम है। यों अपभ्रंश से हिन्दी और राजस्थानी का समान रूप से सम्बन्ध होने से प्रारम्भिक काल की उभय भाषाओं में विशेष अन्तर नहीं है। अपभ्रंश में सर्वाधिक साहित्य दिगम्बर कवियों ने लिखा इसलिए हिन्दी में भी श्वेताम्बर कवियों की अपेक्षा उन्होंने पहले से लिखना प्रारम्भ किया और परिणाम में भी अधिक लिखा। सोलहवीं शताब्दी से दिगम्बर-कवियों, द्वारा रचित हिन्दी-साहित्य अधिक मिलने लगता है। श्वेताम्बर कवियों ने सत्रहवीं शताब्दी से हिन्दी-साहित्य का निर्माण प्रारम्भ किया। चारण कवियों ने तो उसके भी बाद अर्थात् अठारहवीं शताब्दी से हिन्दी को अपनी रचना का माध्यम बनाया। चारण कवियों में नरहरिदास ने 'अवतार-चरित्र' नामक उल्लेखनीय हिन्दी-काव्य अठारहवीं शताब्दी में बनाया है, परिमाण में भी वह १६८६१ श्लोक जितना बड़ा ग्रन्थ है। इसमें चौबीस अवतारों का सविस्तार वर्णन है। साटक, कवित्त, दोहा इत्यादि कई प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है, पद्धड़ी छन्द तो प्रधान है ही। वर्णन शैली सरस और रोचक है। भाषा सीधी-सादी ब्रज है पर कहीं-कहीं राजस्थानी का पुट भी दृष्टिगोचर होता है। भाषा

की ऐसी सरलता और वर्णन की स्वाभाविकता बहुत कम चारण-कवियों की रचनाओं में पायी जाती है। चारण डिंगल में लिखते थे और भाट पिंगल में। भाट कवियों की रचनाओं की अभी खोज नहीं हो पायी है।

दिगम्बर जैन-कवियों ने जैन-धर्म सम्बन्धी रचनाओं के अतिरिक्त बहुत-से चरित-काव्य और भक्ति तथा अध्यात्म के पद लिखे हैं। श्वेताम्बर कवियों ने भी अन्य रचनाएँ राजस्थानी में की हैं, पर पद तो हिन्दी में ही अधिकांश रचे हैं। इससे हिन्दी के पदों का उन पर बड़ा प्रभाव रहा ज्ञात होता है। दरबारी कवियों ने रीति-विषयक रचनाएँ बहुत अधिक लिखी हैं।

राजस्थान की सीमाएँ अन्य प्रान्तों से मिली-जुली हैं, अतः उन प्रान्तों का प्रभाव यहाँ की भाषा एवं संस्कृति आदि पर पड़ा है। उदाहरणार्थ राजस्थान के गोढ़वाड़, वागड़ आदि के प्रदेश गुजरात से मिलते-जुलते होने से वहाँ की भाषा पर गुजराती का प्रभाव है। अलवर, भरतपुर, धौलपुर आदि जो व्रज आदि हिन्दी-प्रदेशों के पास हैं वहाँ की भाषा हिन्दी है या हिन्दी प्रभावित। इसी तरह जो प्रदेश सिन्ध के निकट का है वहाँ पर उधर की बोलियों का प्रभाव होना स्वाभाविक है। राजस्थान के लोग व्यापार, तीर्थयात्रा, कौटुम्बिक सम्बन्ध आदि के प्रसंग से निकटवर्ती और दूर-वर्ती स्थानों में जाते-आते रहे हैं और अन्य प्रदेशों के लोग राजस्थान में आते रहते हैं। उनके सम्पर्क से उनकी भाषा में उन-उन प्रदेशों का प्रभाव भी थोड़ा-बहुत पड़ा ही है।

हिन्दी तो भारत के विशाल क्षेत्र की भाषा है। मुसलमानी साम्राज्य के समय खड़ी बोली का प्रभाव बढ़ा और धार्मिक व राजसभा में प्रभाव व्रज-भाषा का अधिक रहा। अतः राजस्थान में व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों का साहित्य मिलता है। ढूंढाड़ी गद्य भी हिन्दी से बहुत कुछ समानता रखता है, जिसमें दिगम्बर जैन विद्वानों ने लाखों श्लोक परिमित प्राकृत, संस्कृत ग्रन्थों की टीकाएँ लिखी हैं। हिन्दी के विद्वानों को राजस्थान के राजाओं ने अपनी राज-सभाओं में संस्कृत और राजस्थानी विद्वानों एवं कवियों की तरह ही स्थान दिया। इन सब कारणों से राजस्थान में हिन्दी-साहित्य भी काफी परिमाण में रचा गया है। यहाँ सक्षेप में उनकी जानकारी दी जा रही है।

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की जो रचनाएँ बतलाई जा रही हैं प्रायः वे सभी राजस्थान में रचित हैं, क्योंकि हिन्दी-प्रदेशों का प्राचीन साहित्य सुरक्षित नहीं रहा। 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का आदि महाकाव्य है। उसके कई रूपान्तर मैंने गुजरात और राजस्थान से प्राप्त किये हैं। उनमें से लघुतम का परिमाण करीब १२०० श्लोकों का है तो लघु का ३५००-४०००, मध्यम का ७-१० हजार श्लोकों का है। लघुतम एवं लघु संस्करण अब छप चुका है। वृहद् रूपान्तर तो नागरी प्रचारिणी सभा काशी से बहुत वर्षों पूर्व ही छप चुका था। पृथ्वीराज रासो की रचना राजस्थान में ही हुई। 'वीसलदेव रास' वास्तव में हिन्दी की नहीं, राजस्थानी की रचना है। यह भी 'पृथ्वी-राज रासो' की तरह अजमेर से सम्बन्धित है। 'खुमाण रासो' भी राजस्थानी भाषा में है, उसे जैन-कवि दलपत (विजय) ने अठारहवीं शताब्दी में बनाया है। 'विजयपाल रासो' भी वीरगाथा-कालीन न होकर परवर्ती रचना है।

राजस्थानी के हिन्दी-साहित्य के विकास को नीचे लिखे तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है—

१. प्राचीनकाल १२०० से १६००
२. मध्यकाल १६०० से १६५०
३. आधुनिक काल १६५० वि० से वर्तमान तक।

डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने अपने 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' नामक शोध-प्रबन्ध में राजस्थान के हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ संवत् १५५० से १७०० तक और मध्यकाल १७०० से १६०० तक एवं आधुनिककाल १६०० से अब तक का समय बताया है। प्रारम्भ काल के समय के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"हिन्दी-साहित्य के विद्वान् ब्रजभाषा के जिन ग्रन्थों को संवत् १५५० से पूर्व का मान रहे हैं वे यथार्थ में १५५० के पूर्व के नहीं हैं। वस्तुतः ब्रज-भाषा में साहित्य-सर्जन का प्रारम्भ संवत् १५५० के बाद से हुआ है। और राजस्थान के ब्रज-भाषा के कवियों में पहला नाम भक्तशिरोमणि मीराबाई का है।" मेनारिया जी का यह लिखना समीचीन प्रतीत नहीं होता। नयी खोजों से ब्रजभाषा का प्राचीन साहित्य कुछ प्रकाश में आया है। राजस्थान के जयपुर स्थित दिगम्बर जैन शास्त्र भण्डारों मे ऐसी कई रचनाएँ मिली हैं जो १५०० से काफी पूर्व की हैं। उदाहरणार्थ जैन-कवि रल्ह की जिनदत्त चौपाई संवत् १३५४ की रचना है जिसकी एक प्रति दिगम्बर शास्त्र भण्डार में मिली है। अपभ्रंश का प्रभाव होने पर भी इससे हिन्दी के विकसित रूप का पता लगता है। ५६४ पद्यों वाली इस रचना की अभी प्राचीन अन्य प्रति की खोज की जानी आवश्यक है। रचनाकाल-सूचक पद्य तथा बीच के कुछ पद्य नीचे दिये जा रहे हैं—

संवत तेरहसे चउवण्णे, भादव सुदि पंचम गुरु दिण्णे।
स्वाति नखतु चंदु तुलहती, कवइ रल्हु पयावइ सरसुती ।।२५।।
जीवदेव धरि नन्दणु भयउ, घर-घर कुटंब वधाउ गयउ।
गावहि गीतु नाइका सउकु, चउरी करिउ मोतिन्ह चउकु ।।६०।।
देहि तंबोलत फोफल पाण, दीने चीर पटोले दाण।
पूत बधारा नाहीं खोरी, दीने सेठि दाम दुइ कोड़ि ।।६१।।
चंपा वण्णी सोहइ देह, गल कदलाह तिण्णि जसु रेह।
पीणत्यणि जोव्वन मयसार, उर पोटो कडियल वित्थार ।।६४।।

'जिनदत्त-चरित' जयपुर के जैन साहित्य-संस्थान से शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। इसका रचयिता रल्ह कवि कहाँ का निवासी था ? ग्रन्थ में यह उल्लेख नहीं मिलता, पर बीसलदेव रास के रचयिता का नाम नल्ह या नाल्ह है इसी प्रकार जल्ह, मल्ह आदि नामों वाले कई कवि राजस्थान और उसके आस-पास वाले प्रदेश में हुए हैं। अतः रल्ह का भी राजस्थान-वासी होना सम्भव है। इसके बाद कवि साधारु ने प्रद्युम्न-चरित संवत् १४११ में रचा, यद्यपि वह राजस्थान का नहीं था। यह ग्रन्थ महावीर जी तीर्थक्षेत्र कमेटी के उपर्युक्त शोध-संस्थान से प्रकाशित हो चुका है।

राजस्थान में रचित प्राथमिक उल्लेखनीय काव्य पृथ्वीराज रासो है। इसका रचयिता कवि चंद वरदाई पृथ्वीराज चौहान का द्वारभट्ट—सभा कवि था। पृथ्वीराज चौहान की मृत्यु १२४६ में हुई, अतः रासो का रचनाकाल भी इसी के लगभग का है। पर रासो की हस्तलिखित प्रतियाँ अभी तक सत्रहवीं शताब्दी से पहले की प्राप्त नहीं हुई, केवल तीन पद्य ही पृथ्वीराज प्रबन्ध में प्राप्त 'प्रबन्ध-संग्रह' में इसके पहले के लिखे हुए मिले हैं। पृथ्वीराज रासो के कई रूपान्तर गत तीस वर्षों में राजस्थान तथा गुजरात के ग्रंथ भण्डारों से प्राप्त हुए हैं। इससे पहले केवल बृहद् संस्करण की ही जानकारी थी। करीब ३५ वर्ष पूर्व डॉ० बनारसीदास जैन को लाहौर में रासो के मध्य संस्करण की एक प्रति प्राप्त हुई। हमारे संग्रह में भी मध्यम रूपान्तर की एक प्रति थी और बीकानेर के बृहत् ज्ञान-भण्डार में भी थी। अनूप संस्कृत लायब्रेरी में रासो के छोटे संस्करणों की कई प्रतियों के होने का डॉ० बनारसीदास जी को विदित हुआ तो वे बीकानेर आए, उनके साथ मैं भी अनूप संस्कृत लायब्रेरी की प्रतियाँ देखने गया, तभी से रासो की प्राचीन प्रतियों की खोज में मैं लग गया। लघु और लघुतम संस्करणों की भी मैं कई प्रतियाँ प्राप्त कर सका। अनूप संस्कृत लायब्रेरी की लघु संस्करण वाली प्रति के आधार से डॉ० दशरथ शर्मा ने नागरी प्रचारणी पत्रिका में लेख प्रकाशित किया और मैंने उस समय तक जितनी भी रासो के बृहद्, मध्यम और लघु संस्करण की प्रतियाँ मुझे मिलीं उनका विवरण कलकत्ता की राजस्थान रिसर्च सोसायटी से प्रकाशित राजस्थानी-भाग २ में प्रकाशित किया। उसके बाद मुनि पुण्यविजय जी से रासो के लघुतम संस्करण की एक प्रति का पता चला जो गुजरात के धारणोज गाँव में थी और संवत् १६६७ की लिखी हुई थी। मुनिश्री ने मुझे उस प्रति की प्रतिलिपि भेज दी और उसका सम्पादन-कार्य मैंने अपने विद्वान् मित्र श्री नरोत्तमदासजी स्वामी को सौंप दिया। उनके सम्पादित लघुतम संस्करण का कुछ अंश अन्य रूपान्तरों के पाठ-भेद-सहित 'राजस्थान भारती' के तीन अंकों में प्रकाशित किया गया है। लघुतम संस्करण की और एक प्रति मुनि जिनविजय जी के पास मुझे देखने को मिली। अब तो लघुतम संस्करण बहुत सुन्दर रूप में डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

लघु संस्करण पंजाब से निकल चुका है। अब तक कई विद्वानों ने रासो की भाषा और अनैतिहासिक बातों को देखते हुए उसे संवत् सोलह सौ के बाद की रचना घोषित किया था। डॉ० मेनारिया ने तो अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध की रचना है, बतलाया था। उनके कथनानुसार रासो का बृहद् संस्करण महाराणा अमरसिंह (द्वितीय) द्वारा तैयार कराया गया माना था। पर इससे पहले की लिखी हुई प्रतियाँ प्राप्त हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने पाठालोचन के सिद्धान्तानुसार भी रासो को सं० चौदह-सौ के आस-पास की रचना माना है। वास्तव में यह मत उपलब्ध पाठ पर ही आधारित है। अभी प्राचीन प्रतियों की खोज आवश्यक है।

सोलहवीं शताब्दी से हिन्दी-साहित्य अधिक परिमाण में लिखा जाने लगा। राजस्थान में भी इसी समय से हिन्दी रचनाएँ मिलने लगती हैं। सम्राट् अकबर के समय हिन्दी-साहित्य को विकसित होने का सुयोग अधिक मिला। सूरदास, तुलसीदास

आदि इसी समय हुए हैं। राजस्थान में अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी-साहित्य बहुत अधिक रचा गया। एक ओर राज्याश्रित हिन्दी-कवियों ने अनेक महत्त्व-पूर्ण कृतियों का सृजन किया तथा दूसरी ओर सन्तों एवं जैन कवियों ने। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बिहारी जैसे कवि को राजस्थान में आश्रय मिला। 'बिहारी सतसई' की रचना जयपुर के महाराजा जयसिंह के आश्रय में ही हुई है। कुलपति, पद्माकर, सोमनाथ आदि बहुत-से कवि बाहर से राजस्थान में आये और वृन्द कवि आदि राजस्थान में ही उत्पन्न हुए। राजाओं में भी कई बड़े अच्छे कवि हुए। रानियों में भी उल्लेखनीय कवयित्रियाँ हुई हैं। जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह एवं मानसिंह, जयपुर के राजा प्रतापसिंह, किशनगढ़ के नागरीदास, बूंदी-नरेश बुधसिंह आदि हिन्दी के ख्याति प्राप्त कवि हैं। जसवन्तसिंह की रचनाओं का संग्रह नागरी-प्रचारिणी सभा काशी से प्रकाशित हो रहा है। मानसिंह की रचनाओं में से पदों के दो संग्रह बीकानेर से और एक 'रसराज' के नाम से जोधपुर से निकल चुके हैं। महाराजा प्रतापसिंह की रचनाओं का संग्रह 'व्रजनिधि-ग्रन्थावली' के नाम से ना० प्र० स० से कई वर्ष पहले छप चुका है। 'नागरीदास ग्रन्थावली' काफी वर्ष पहले छपी थी, अब नया संस्करण निकलने वाला है। रानियों में मीरां के बाद बीसों कवयित्रियाँ हो गई हैं जिनमें से किसनगढ़ की व्रजदासी सर्वाधिक उल्लेखनीय है, उन्होंने भागवत का हिन्दी पद्यानुवाद बहुत ही सुन्दर बनाया है जिसे प्रकाशित करने का प्रयत्न कलकत्ता के सेठ श्री भूरामल अग्रवाल कर रहे हैं।

बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह के आश्रित कई कवियों ने हिन्दी की रचनाएँ की हैं। इसी तरह भरतपुर, उदयपुर, अलवर के राज्याश्रित कवियों की रचनाएँ भी उल्लेखनीय हैं। इनका विवरण 'राजस्थानी का पिंगल साहित्य' तथा 'मत्स्य-प्रदेश की हिन्दी-सेवा' आदि ग्रन्थों में प्रकाशित हो चुका है।

राजस्थान में रचित रीतिकालीन हिन्दी-कवियों के साहित्य की जानकारी प्रायः सभी हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में प्रकाशित है, अतः यहां विशेष-विवरण नहीं दिया जा रहा है।

राजस्थान के हिन्दी-साहित्य को चरित-काव्य, पौराणिक-काव्य, नीति-काव्य (कृष्ण-भक्ति, राम-भक्ति निर्गुण-भक्ति), रीति काव्य, नीति-काव्य जैन-काव्य व फुटकर ऐसे कई भागों में विभक्त किया जा सकता है। साहित्य की कई विधाओं का राजस्थान में विशेष प्रचार राजस्थानी-हिन्दी-साहित्य की अपनी विशेषता है। जैसे परिचई साहित्य, सन्तों के चामत्कारिक व प्रभावशाली जीवनी-सम्बन्धी जितनी रचनाएँ राजस्थान में लिखी गई हैं, अन्यत्र कम ही मिलेंगी। परिचई संज्ञक रचनाओं के प्रथम लेखक अनन्तदास सं० १६५४ के आस-पास हुए हैं। इन्होंने सन्त कबीर, रैदास आदि नौ सन्तों व भक्तों की परिचइयां लिखी हैं, इसका आगे चलकर खूब अनुकरण हुआ। राजस्थान के सन्तों ने पच्चीस-तीस परिचइयां लिखी हैं, कुछ अन्य प्रदेशीय सन्तों ने भी। इस तरह की पचास से अधिक परिचइयों का विवरण मैं प्रकाशित कर चुका हूँ। 'भक्तमाल' भी सबसे पहले राजस्थान के सन्त नाभादास ने लिखी और इसके अनुकरण

में बहुत-से सन्त व भक्ति-सम्प्रदायों ने अपने-अपने भक्तों के चरित्रों का समावेश करते हुए भक्तमालें बनायीं।

हिन्दी में सतसई सबसे पहले विहारी कवि ने राजस्थान में लिखी और इस विधा का भी आगे चलकर बहुत प्रचार रहा। राजस्थान में व अन्यत्र भी अनेक विषयों की सतसइयाँ लिखी गई। ज्ञात सतसइयों का विवरण भी 'सप्त-सिन्धु' में प्रकाशित मैंने अपने लेखों में दे दिया है। वर्णमाला के अक्षरों पर रचे गये पद्यों वाली 'वखनी संज्ञक' रचनाओं की परम्परा भी राजस्थानी-भाषा में सबसे अधिक मिलती है। हिन्दी में 'बावनियाँ' राजस्थानी कवियों ने ही सर्वाधिक लिखी हैं।

'द्वावैत' खड़ी बोली में लिखी गई गद्य-विधा भी राजस्थान की विशेष देन है। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में बहुत-सी द्वावैतें लिखी गई हैं, इसके सम्बन्ध में 'भारतीय-साहित्य' और शोध-पत्रिका में विवरण प्रकाशित किया जा चुका है। गद्य में 'वचनिका' संज्ञक रचनाएँ भी सबसे अधिक राजस्थान में ही रची गयी हैं। राजस्थानी भाषा में तो प्रसिद्ध वचनिकाएँ तीन ही हैं पर हिन्दी में दिगम्बर कवियों ने अपनी भाषा टीकाओं को भी वचनिका सज्ञा दे दी है और ऐसी वचनिकाएँ अठारहवीं-उन्नीसवीं शती में पचीसों रची गई हैं।

इस तरह प्रत्येक प्रान्त के साहित्य की कुछ अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं। कई विशेषताओं का प्रचार तो उस प्रान्त तक ही सीमित रहता है और कई अन्य प्रान्तों में भी अपना ली जाती हैं।

हिन्दी ग्रन्थों की कई राजस्थानी और कई संस्कृत टीकाएँ भी राजस्थान में लिखी गई हैं। कवि केशव के 'नख-शिख' और 'रसिकप्रिया' की 'राजस्थानी' भाषा टीकाएँ तथा 'बिहारी सतसई' की एक जैन विद्वान् द्वारा निर्मित संस्कृत टीका उल्लेखनीय है।

राजस्थान में रचित हिन्दी के ऐतिहासिक-काव्य

संस्कृत में ऐतिहासिक-काव्यों की एक दीर्घ परम्परा रही है। हिन्दी में भी यह परम्परा अच्छे रूप में चलती रही। राज्याश्रित कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के देश एवं व्यक्तियों के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक काव्य लिखे हैं। 'पृथ्वीराज रासो' से हिन्दी के ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा चालू होती है और उन्नीसवीं शताब्दी तक चलती रहती है। सम्राट् अकबर के जमाने से राजाओं ने अपने वंश का इतिहास ख्यात और काव्य के रूप में लिखाना प्रारम्भ किया। इससे पहले के काव्यों की शैली भिन्न प्रकार की है। उपलब्ध काव्यों में कई तो केवल प्रशसात्मक ही हैं और कईयों में घटनाओं की तिथियों का भी उल्लेखनीय विवरण मिलता है। कईयों का सम्बन्ध व्यक्ति से है और कईयों का वंश वृतान्त तक व्याप्त है। यहाँ इन दोनों प्रकार के कतिपय हिन्दी-ऐतिहासिक-काव्यों का विवरण दिया जा रहा है।

सतरहवीं शताब्दी के राजस्थान में रचित ऐतिहासिक हिन्दी-काव्यों में 'क्याम-खाँ रासा' फतैपुर के नवाब अलफखाँ के पुत्र न्यामतखाँ जिसका उपनाम 'जानकवि'

था, ने संवत् १६९१ में बनाया। इसमें क्यामखानी नवाबों के वंश का महत्त्वपूर्ण वृत्तान्त है। अलपखाँ के सम्बन्ध में जानकवि ने 'अलपखाँ की पैड़ी' की रचना एक युद्ध वर्णन के रूप में की है। इन दोनों रचनाओं को हमने राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर, जोधपुर से प्रकाशित करवा दिया है।

यों इससे पूर्व कवि जटमल नाहर ने संवत् १६८० में चित्तौड़ की पद्मिनी के सम्बन्ध में 'गोरा-बादल की बात' पंजाब में रहते हुए बनाई है। कवि जटमल मूलतः राजस्थान का निवासी था। पद्मिनी की घटना बहुत वर्ष बाद रचे जाने के कारण इसे विशुद्ध ऐतिहासिक रचना कोटि में नहीं रखी जा सकती। 'गोरा-बादल की बात' मेरे भ्रातृ-पुत्र भंवरलाल के 'पद्मिनी-चरित्र' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हो चुकी है।

अठारहवीं शताब्दी से तो कुछ महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक हिन्दी काव्य प्राप्त होने लगते हैं जिनमें कवि हरिदास रचित 'अमर बत्तीसी' राठोड़ अमरसिंह सम्बन्धी ऐतिहासिक रचना है। संवत् १७०१ श्रावण सुदी २ को राठोड़ अमरसिंह ने शाहजहाँ के दरबार में सलावत खाँ को कटार से मारा था। उस घटना का वर्णन उसी संवत् की आश्विन-पूर्णिमा को कवि हरदास ने अपनी अमर-बत्तीसी में किया है। कुल ३९ पद्यों की इस रचना को मैंने 'भारती विद्या'—भाग २, अंक-१ में अपने संग्रह की प्रति के आधार से प्रकाशित किया है। १९ वें पद्य के बाद इसमें तुकान्त गद्य 'वचनिका' के नाम से पाया जाता है जिसकी चार पक्तियाँ यहाँ उदाहरण स्वरूप दी जा रही हैं—

> तिह समै राव अमरेस जू उमराव, मंडे रिन गाढ़े मांडि के पाव।
> राजपूत तो सकल पें हीर रे, दुचते मन कायर सुचितै मनि सूर रे।
> सूरत के सीत असमनि लागे, काइरन के अवसान भागे।
> सूरन में करन भोपत्योत को मानीदास भूप, गिर मेर मांडणोत के वंश को रूप।

मिश्र दलपति कवि ने जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह जी सम्बन्धी ऐतिहासिक काव्य "जसवन्त उद्योत" सम्वत् १७०५ में रचना प्रारम्भ किया और इसमें संवत् १७०७ तक की घटनाओं का उल्लेख है। महाराजा जसवन्तसिंह की विद्यमानता में रचे जाने के कारण इसमें तत्कालीन प्रामाणिक इतिवृत्त है। प्रारम्भ में राठोड़ वंश का जो विवरण और वंशावली दी है, वह जनश्रुति और प्रवाहों आदि पर आधारित है। यह ग्रन्थ मैंने सम्पादित करके अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर से प्रकाशित करवा दिया है।

उदयपुर के महाराणा राजसिंह सम्बन्धी ऐतिहासिक काव्य श्वेताम्बर विजय-गच्छ के कवि मानसिंह रचित 'राजविलास' नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित है। ८ खण्ड—विलास—के इस काव्य की छन्द संख्या १५२७ और रचना काल संवत् १७३४ है। इसके द्वितीय संस्करण के सम्पादक डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने इस ऐतिहासिक काव्य के सम्बन्ध में लिखा है कि 'राज-विलास में प्रसाद एवं माधुर्य की मात्रा न्यून और ओज की अधिकता है। इसकी भाषा बहुत प्रौढ़, परिमार्जित एवं अलंकार बहुल है। वर्णन की स्वाभाविकता, कथा का संगठन, इतिहास की सत्यता आदि गुणों

का जो सुन्दर स्वरूप इसमें प्रस्तुत किया गया है वह बहुत ही प्रभावपूर्ण और प्रांजल है। महाराजा राजसिंह अपने समय के विख्यात हिन्दू नेता थे। ऐसे वीर-सेनानी का जीवन-चरित्र जैसी तल्लीनता से लिखा जाना चाहिए, वैसी ही तल्लीनता से इसमें लिखा गया है। सचमुच ही यह हिन्दी का गौरव-ग्रन्थ है।"

रतलाम के महाराजा रत्नसिंह के युद्ध सम्बन्धी राजस्थानी वचनिका तो प्रकाशित हो चुकी है पर उनके सम्बन्ध में कवि कुम्भकरण विरचित 'रतन रासो' नामक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक काव्य प्राप्त है जिसे सीतामऊ के महाराजकुमार, प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री रघुवीरसिंह जी प्रकाशित करने वाले हैं। डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने अपने 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' ग्रन्थ में इसका रचनाकाल संवत् १७३२ दिया है। कवि कुम्भकरण जोधपुर का निवासी सांदू शाखा का चारण था।

बीकानेर के महाराजा सुजाणसिंह के वरसतपुर विजय का ऐतिहासिक वृत्तान्त मथेन जोगीदास ने लिखा है, जिसकी संवत् १७६९ की लिखी हुई प्रति अनूप संस्कृत लायब्रेरी में है।

हमीरायण, हमीर-रासो भी १८वीं शती की रचनाएँ हैं। इनमें से कवि जोधराज ने हमीररासो संवत् १७८५ में बनाया। अन्य हमीर-रास महेश कवि का भी प्राप्त है। यह हमीर के बहुत बाद की रचना होने से इसमें अनैतिहासिक तथ्य भी काफी हैं पर साहित्यिक दृष्टि से यह मूल्यवान रचना है। मेनारिया जी ने जोधराज के हमीररासो के सम्बन्ध में लिखा है कि इसकी भाषा-शैली सरल और चित्ताकर्षक है। कविता मनोहर और वीरोल्लासिनी है। मुख्य रस वीर है पर श्रृंगार आदि दो-एक रसों की छटा भी इसमें अच्छी दिखाई देती है। नागरी प्रचारिणी सभा से यह रासो प्रकाशित हो चुका है। 'हमीरायण' नामक एक और काव्य १७७३ पद्यों का पुरोहित हरिनारायण जी के संग्रह में प्राप्त हुआ है. जिसकी प्रतिलिपि संवत् १७७३ की प्रति से की गई थी।

संवत् १७५४ में कवि हरिनाम रचित 'केसरीसिंह समर' पं० झाबरमल शर्मा ने सम्पादित कर प्रकाशित किया है। डॉ० मेनारिया ने संवत् १७१० के लगभग रचित राम कवि का 'जयसिंह-चरित्र', डूँगरसी का शत्रुशाला रासो, संवत् १७३७ से १७५५ में रचित दयालदास का 'राणा रासो' और संवत् १७६२-६४ के वृन्दकवि की वचनिका और सत्य स्वरूप का उल्लेख किया है।

उन्नीसवीं शताब्दी का कविवर सूदन रचित 'सुजान-चरित्र' भी प्रकाशित हो चुका है जिसमें भरतपुर के राजा सूरजमल के संवत् १८०२ से १८१० तक के युद्धों का वर्णन है। ग्रन्थ ७ जंगों में विभक्त है और प्रत्येक जंग में कई अंक हैं। छन्द भी जल्दी-जल्दी बदले हैं। वर्णन शैली सशक्त और कविता ओजस्विनी है। भरतपुर के और भी कई ऐतिहासिक काव्य मुनि कान्तिसागर जी को प्राप्त हुए थे जिनमें से कवि मोतीराम कृत 'चन्द्र वंशावली' और कवि उदयराम कृत 'सुजान संवत्' राजस्थान-प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान से प्रकाशित होने वाले हैं। बुद्धि-विलास, कृष्णदास रासो, पर्वत पट्नी रासो, भावदेवसूरि रास, आदि कुछ जैन ऐतिहासिक ग्रन्थ भी प्राप्त हैं। प्रतापगढ़ सम्बन्धी ऐतिहासिक काव्य की एक अपूर्ण प्रति श्री मोतीचन्द जी खजानची के संग्रह में है। डॉ०

मेनारिया ने संवत् १८०२ में नन्दराम रचित 'जग-विलास' का उल्लेख किया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के कवि मंडन कृत पाँच एतिहासिक काव्य मिलते हैं। जिनके नाम—१. जयशाह सुजस प्रकाश (संवत् १८७७ के लगभग), २. रावल-चरित्र (संवत् १८७६), ३. राठौड़ चरित्र (संवत् १८७६), ४. भारत चरित्र (संवत् १८७४), और ५. कृष्ण सुयश प्रकाश। कवि मंडन का जन्म संवत् १८३० में हुआ था। उपरोक्त ५ ऐतिहासिक ग्रंथों के अतिरिक्त उसके ६ अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त के ऐतिहासिक काव्यों में महाकवि सूर्य्यमल का वंश भास्कर' अत्यन्त प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। यह प्रकाशित भी हो चुका है। ये महाकवि मिश्रण शाखा के चारण और बूंदी के निवासी थे। इनके वीर सतसई बलवन्त-विलास, सती रासो, आदि ग्रंथ भी प्राप्त हैं। डॉ० मेनारिया ने लिखा है कि "इनके जैसी वीर-रस की सुन्दर कविता करने वाला कवि हिन्दी में दूसरा कोई नहीं हुआ।"

बीकानेर के सुप्रसिद्ध ख्यातकार दयालदास सिंढायच ने 'जस रत्नाकर' नामक एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक काव्य बनाया जिसकी प्रति अपूर्ण ही मिली है। उन्हीं का रचित 'पंवार-वश-दर्पण' सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट से प्रकाशित हो चुका है।

चारण वंश के चण्डीवाल गोत्रीय कविया गोपाल 'शिखर, वंशोत्पत्ति और 'लावारासा' नामक दो ऐतिहासिक काव्य बनाये। उनमें से 'शिखर वंशोत्पत्ति पीढ़ी वार्त्तिक' नामक राजस्थानी ग्रन्थ की रचना संवत् १९२६ में हुई। इसमें सीकर के इतिहास की अच्छी जानकारी दी है। 'वार्त्तिक' शब्द का गद्य का ही प्रकार है पर उसमें तुक मिलाने का प्रयत्न किया गया है। 'लावारासा' का दूसरा नाम, 'कूर्मवंश यश प्रकाश' है। इसमें कछवा वंश और विशेषतः लावा के युद्ध का वर्णन है। श्री मेहतावचन्द खारैड से सम्पादित होकर राजस्थान पुरातत्व मन्दिर से यह प्रकाशित हो चुका है। सम्पादक के अनुसार इसकी रचना शिखर वंशोत्पत्ति के बाद में हुई है।

कवि नल्लसिंह रचित 'विजयपाल रासो' की चर्चा हिन्दी-साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में वीर-गाथा-काल की रचनाओं में हुई पर इसकी कोई पूरी प्रति प्राप्त नहीं हुई, अतः रचना समय निश्चित नहीं किया जा सका। फिर भी इसकी भाषा एवं शैली को देखते हुए मैंने इसे १९वीं शताब्दी का बतलाया था। डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने भी यह ग्रंथ संवत् १९०० में अथवा इससे भी कुछ बाद में रचा गया लिखा है। इसमे करोली राज्य के यदुवशी नरेश विजयपाल का विशेष वर्णन है, यद्यपि वह इतिहास विरुद्ध और अतिरंजित है। और भी अनेक छोटे-मोटे ऐतिहासिक काव्य रचे गये जिनकी प्रतियाँ आश्रयदाताओं या कवियों के वंशजों के पास पड़ी होंगी। उनकी खोज की जाकर उन्हें प्रकाश में लाना आवश्यक है।

राजस्थान की कवयित्रियाँ

राजस्थान में सतियाँ अनेक हुई हैं उसी तरह कवयित्रियाँ भी बहुत-सी हुई हैं। अन्य प्रान्तों की अपेक्षा राजस्थान को सर्वाधिक कवयित्रियाँ उत्पन्न करने का सौभाग्य प्राप्त है। सोलहवीं शताब्दी से वर्त्तमान तक की राजस्थानी और हिन्दी की कवयित्रियों

की संख्या पचास के लगभग है। इनमें से कइयों की तो फुटकर पद-दोहादि रचनाएँ प्राप्त हैं पर कइयों ने अनेक रचनाएँ की हैं और वे काफी अच्छे स्तर की हैं।

राजस्थानी कवयित्रियों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जा सकता है। प्रथम राजघराने की और दूसरी अन्य कवयित्रियाँ। रचनाओं की दृष्टि से रामकाव्य, कृष्ण काव्य और निर्गुण काव्यधारा तीनों तरह की रचनाएँ मिलती हैं।

मीरां सबसे प्राचीन और प्रसिद्ध है जिनके पद राजस्थानी, गुजराती और हिन्दी —तीनों भाषाओं के करीब १५०० प्रकाशित हो चुके हैं। अवश्य ही ये सभी पद मीरां के रचित नहीं है, उनके नाम से परवर्ती कवि और कवयित्रियों ने प्रचारित कर दिए हैं। मीरां के पदों का सबसे बड़ा संग्रह स्वामी आनन्दस्वरूप 'मीरां सुधा-सिन्धु' नामक ग्रंथ है। पुरोहित हरिनारायण जी संगृहीत पदों का संग्रह राजस्थान-प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में छप रहा है। हस्तलिखित प्रतियों के आधार से अभी पदों का पाठ सम्पादन नहीं हो पाया है, जिसकी अत्यन्त आवश्यकता है। मीरां की अन्य रचनाएँ 'नरसी माहरो' आदि वास्तव में उनकी नहीं है।

राजघराने की अन्य कवयित्रियों में किसनगढ़ के महाराज रार्जसिंह की पत्नी व्रजकुमारी सबसे बड़ी और उच्चकोटि की हैं। आपका भागवत का अनुवाद बड़ा सुन्दर है। सालव युद्ध और फुटकर रचनाओं की प्रति भी मुनि कान्तिसागर जी के संग्रह में है। किशनगढ़ के महाराजा रार्जसिंह की पुत्री सुन्दरकुंवरी की रचनाएं भाव और कलापक्ष उभय दृष्टि से महत्त्व की हैं। नेहविधि आदि ११ रचनाएँ प्राप्त हैं।

नागरीदास की पोत्री छत्रकुंवरी बाई की रचना 'प्रेम-विनोद' संवत् १८४५ में लिखी गई है रचना बड़ी मनोहर और सरस है। किसनगढ़ की इन तीन कवयित्रियों की तरह अलवर की रूपदेवी आदि बड़ी अच्छी कवयित्रियाँ हुई हैं। जोधपुर के महाराजा मार्नासिंह की पत्नी 'प्रतापकुंवरी' की १५ रचनाएँ प्राप्त हैं जो राम-भक्तिपूर्ण और प्रसाद गुण के ओत-प्रोत हैं।

संत कवयित्रियों में चरणदास की शिष्या दयावाई और सहजोवाई उल्लेखनीय हैं। डूंगरपुर की गोरीवाई तो मीरा का अवतार मानी जाती हैं, उनके करीब ६०० पद प्राप्त हैं। बूंदी की चन्द्रकलाबाई रचित रामचरित प्रकाशित हो चुका है। सोढी नाथी की कुछ रचनाएं भी छप चुकी हैं। राजस्थान की कवयित्रियों के सम्बन्ध में 'प्रेरणा' के फरवरी, १९६३ के विशेषांक में अच्छी जानकारी दी गई है।

राजस्थान में प्राप्त हिन्दी-गद्य की प्राचीन रचनाएँ

हिन्दी-साहित्य में प्राचीन गद्य की जितनी कमी मानी जाती है, वास्तव में उतनी है नहीं। इधर की खोजों से प्राचीन गद्य की बहुत-सी रचनाएं प्रकाश में आई हैं। अभी हिन्दी गद्य रचनाएँ बहुत सी अज्ञात पड़ी हैं। लक्षाधिक श्लोक परिमित ढुंढाडी हिन्दी गद्य तो केवल दिगम्बर विद्वान् श्रावकों के लिखे हुए जयपुर के जैन शास्त्र भंडारों में प्राप्त हुआ है, जिनके सम्बन्ध में स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध लिखा जाना आवश्यक है। सत्रहवीं शताब्दी के पं० राजमल्ल ने समयसार की भाषा टीका राजस्थान में ही बनाई, उसकी

कई प्रतियाँ दिगम्बर भंडारों में प्राप्त हैं। इसके बाद अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में केवल टीकाओं के रूप में ही नहीं, कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गए हैं। जैनेतर लेखकों की भी अनेक गद्य रचनाएँ राजस्थान के ज्ञान भंडारों में प्राप्त हुई हैं।

हिन्दी-गद्य, व्रज भाषा और खड़ी बोली इन दोनों का राजस्थान में मिलता है। सतरहवीं शताब्दी की कुछ गद्य रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। पृथ्वीराज रासो के संस्करणों में भी बीच-बीच में गद्य का प्रयोग हस्तलिखित प्रतियों में मिला है। वे प्रतियाँ सतरहवीं शताब्दी तक की लिखी हुई हैं। रासो के गद्य अवतरण मैंने अलग से छांट के 'व्रज भारती' में प्रकाशित कर दिए थे।

खड़ी बोली को प्रधानता मुसलमानी साम्राज्य में मिली। संभवतः उन्होंने ही खड़ी बोली को सर्वाधिक प्रचारित किया। मुसलमानी पात्रों के राजस्थानी काव्यों एवं वातों में जहाँ-जहाँ उल्लेख आये हैं वहाँ उनके मुख से खड़ी बोली के वाक्य ही कहलाए गए हैं। खड़ी बोली को प्राचीन महत्त्वपूर्ण रचना 'कुतुबशतक' या कुतुबदीन की वात' राजस्थान के ग्रन्थ भंडारों में ही प्राप्त हुई है। इसके कई रूपान्तर भी मिले हैं। सबसे प्राचीन प्रति अनूप-संस्कृत-लायब्रेरी में संवत् १६३३ की लिखी हुई मिली है हमने इसी तथा अन्य रूपान्तरों की प्रतिलिपि करा रखी है; संपादन भी प्रारम्भ किया था पर डॉ० माताप्रसाद गुप्त उसे प्रकाशित कर रहे हैं, यह ज्ञात होने पर कार्य स्थगित कर दिया गया। यह रचना गद्य व पद्य मिश्रित है। यहाँ संवत् १६३३ की प्रति से इसके गद्य का उदाहरण दिया जा रहा है। इससे खड़ी बोली के प्राचीन गद्य की प्रौढ़ता का आभास मिलता है। संवत् १६३३ की लिखी प्रति प्राप्त है पर रचना तो इससे पहले की ही होनी चाहिए।

"ढढनि दाण स वंद री अढी दे वर नाम।
साहिब सो सूरतियाँ वर वेलिया वडाम ॥१॥
दिल्ली सहर सुरताण पेरोजसाहि थाना।
बीबीयां लाज लोजइ बंधाना ॥२॥
डोसी अगा आगइ बीबी बिवाना पइट्ठी,
नवे पंचसइ हत्यसोवन लट्ठी ॥
वाड़ीयाँ वेलियाँ नयणे दिखावइ,
साहिजादा आगइ सरकणइ न पावइ ॥३॥
एकसि द्यउस देवर ढढिनी मालनी को भेष कर्‌या।
पक्की नारिंग्या जंभीर्‌या भर्‌यां,
वेलियां बंकियां कर्‌यां।
हेलीयाँ साहिजादे कइ आगइ धर्‌यां,
दोइ साहिजादे अप्पणइ हयइ कीयां।
अगा मालनी खुब हइ,
हां साहिजादे जोवणा खूब हइ।
खूब कुं खूब होइगा। टुक एक धीरे

सुलतांण फुरमाण देता ईहइ।
नारंगी दो दो च्यारि वंटे दीयाँ।
पंच सोवन के टका देवरइ भरे।
बे मालनी आईयाँ करे ॥४॥

संवत् १६३० के आस-पास की लिखी हुई रमल शकुनावली की भाषा भी देखिये—

"अंबाजी १—साझा करु नफा होइगा बुरा न होइगा।
सफर २—गमनु न करु, जहमति होइगी, केई दिन धीरा होहि।
जन पूच्छा ३—ए जमाने मांहि जन करणे का पुषु नाहीं, हलावति न होइगी॥
रोजीए ४—रोजी के दर खुलंहिगे, खुसी होइगी॥

(शकुनावली)

इस तरह की शकुनावलियाँ प्राचीन हस्तलिखित गुटकों में बहुत-सी प्राप्त हैं। राजस्थानी प्रेम-कथाओं में कई ऐसी भी हैं जिनमें खड़ी बोली का मिश्रित रूप में प्रयोग हुआ है। मुसलमानों सम्बन्धित बातों में ऐसे प्रयोग अधिक मिलते हैं। यहाँ बहलिमा की बात, ससी-पुनो साहजादे की बात का कुछ अंश दिया जा रहा है:

"तब ऐसैं दिन पांच-सात तो निहोरा कीया, पण पनो न मानैं।
तप पनै नै भायाँ गोठ करी। ससी कै वाग में। तब पनो, होती, मोती अर हसमां ए च्यारूं जने एकठे बहबचे उपर बैठे हैं, अर दारु पीते हैं। हसन प्यारा भरि भरि देते हैं।

(ससी पनू साहजादे की बात सं० १८३४)

"ये लखु असवार फोज ले करि काबा गजनी गया। सो वहाँ जाई पातस्याही करी। ये दोनों ही पातसाही जबर हुई। खूब अमल जमाया। बहोत बरस पातस्याही करी। पीछे बीस्ती कुं गये। जदी पछे कहाणी तमाम हुई।

(बहलिमा की वार्त्ता)

प्राचीन गद्य में भाषा व शैली की विविधता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं जिससे भाषा व शैली की विविधता स्पष्ट ज्ञात हो सकेगी—

"बन्ध कौन सु कहिए है? अनात्म विषै आत्म-बुद्धि ताको बंध कहिये। अनात्मा कहिए। देह इन्द्रिय मन प्राण सम्बन्ध ता विषै आत्म-भाव की देहो हंसो-र बंध कहिए। इतिबंध प्रश्न।"

(मनोहरदास निरंजनी कृत शतप्रश्नी)

"देखि, तूं चेतन है। जड़ अजान है। तै अजान में आपा मान्या, अशुद्ध भया, तेरी लैर अजान न परै है। तूं अपने पद तै ईंधे को (इधर को) मति आवै। तेरा कछु पल्ला न पकरै है। नाहक (व्यर्थ ही) विरानी (दूसरे की) वस्तु को अपनी करि करि झूठी होंस करै। यह हमें भोग से सुख भया, हम सुखी हैं, झूठी भरम-कल्पना मानि मोद करै है।

(दीपचन्द कासलीवाल कृत अनुभवप्रकाश)

जयपुर के महाराजा प्रातपसिंह के आश्रित संगीतज्ञ विद्वानों ने 'राधा-गोविन्द संगीतसार' नामक संगीत का बृहत् ग्रन्थ हिन्दी में लिखा।

आगे जैन लेखकों का हिन्दी गद्य लक्षाधिक श्लोक परिमित बताया गया है, उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा हो सकती है कि इसके रचयिता प्रमुखतया कौन-कौन हैं? कवि राजमल्ल की 'समयसार कलश टीका' का उल्लेख ऊपर किया गया है। (इसके बाद हेमराज की कई भाषा टीकाएँ मिलती हैं। कवि बनारसीदास ने भी दो गद्य रचनाएँ लिखी हैं।) १८वीं शती में दीपचन्द कासलीवाल ने 'चिद्‌विलास', 'आत्मावलोकन' आदि आध्यात्मिक मौलिक गद्य रचनाएँ भी हिन्दी मे लिखी हैं। अक्षयराज श्रीमाल की भी कई गद्य रचनाएँ प्राप्त हैं। उन्नीसवी शताब्दी मे तीन-चार लेखको ने ही लक्षाधिक श्लोक परिमित भाषा टीकाएं लिखी हैं। यहाँ उन्ही का उल्लेख कर देना काफी होगा।

१. **पं० दौलतराम**—खंडेलवाल ज्ञातीय, बसवा के निवासी थे। फिर मन्त्री के पद पर जयपुर, उदयपुर में रहने लगे। संवत् १८२३ में पद्म पुराण, सवत् १८२४ मे आदि पुराणादि की भाषा टीका बनाई। संवत् १८२९ में श्रीपाल चरित्र, सवत् १८२७ में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की टोडरमल जी की भाषा टीका को पूर्ण किया। इन भाषा टीकाओ का दिगम्बर जैन-समाज में काफी प्रचार है।

२. **आचार्यकल्प पं० टोडरमल**—ये जयपुर के खंडेलवाल थे। इनकी प्रतिभा असाधारण थी। १६ वर्ष की अवस्था में ही ग्रन्थ रचना मे प्रवृत्त हो गए। गोमट्टसार जैसे महान् ग्रंथ की भाषा टीका बनाना साधारण व्यक्ति के लिए संभव नही है। आपने उसकी तथा लब्धिसार, क्षपणकसार की भाषा टीका ४५००० श्लोक परिमाण बनाई। इसी तरह त्रैलोक्यसार वचनिका भी दस-बारह हजार श्लोक परिमित है। आत्मानुशासन वचनिका, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषा टीका आपके असमय मे स्वर्गवासी हो जाने से अपूर्ण रह गई है। 'मोक्षमार्गप्रकाश' नामक मौलिक गद्य ग्रंथ भी आपका अपूर्ण रह गया। केवल ३३ वर्ष की अवस्था में ही आप स्वर्गवासी हो गए। इतने कम समय मे इतना अधिक गद्य और किसी ने नही लिखा।

३. **पं० जयचन्द्र**—ये भी जयपुर के छावड़ा गोत्रीय खंडेलवाल थे। सवत् १८६१ से १८७० के बीच आपने लगभग ६०००० श्लोक परिमित भाषा वचनिकाएँ बनाई। सर्वार्थसिद्धि, परीक्षामुख, द्रव्यसंग्रह, ज्ञानार्णव, समयसार आदि प्राकृत व

संस्कृत के दार्शनिक और गम्भीर ग्रंथों की सरल भाषा में टीका बनाने से जनता का काफी उपकार हुआ।

४. पं० सदासुख—ये उच्चकोटि के विद्वान् थे। इन्होंने रत्नकरण्ड श्रावकाचार का १५-१६ हजार श्लोक परिमित भाष्य, तत्त्वार्थसूत्र भाषा (अर्थप्रकाशिका) उतनी ही विस्तृत और भगवती-आराधना टीका बीस हजार श्लोक परिमित संवत् १९०८ में लिखी। इस प्रकार उपर्युक्त चार शास्त्र-वेत्ताओं ने करीब दो लाख श्लोक परिमित भाषा टीकाओं के रूप में गद्य लिखा है।

राजस्थान के हिन्दी-साहित्य का विषय के अनुसार यदि वर्गीकरण किया जाय तो जीवन के प्रायः सभी आवश्यक और उपयोगी विषयों का साहित्य राजस्थान में रचा गया है। रीति, भक्ति और संत साहित्य की प्रधानता तो है ही पर कथा-साहित्य, ऐतिहासिक काव्य, पौराणिक ग्रंथ के आधार से रचे हुए काव्य, आध्यात्म, नीति, धर्म, मनोरंजन, ज्योतिष, वैद्यक, वेदान्त, शकुन, सामुद्रिक, स्वरोदय, क्रीड़ा, कोकशास्त्र, संगीत आदि अनेक विषयों का हिन्दी-साहित्य प्राप्त है। नगर-वर्णन की स्वतन्त्र रचनाएँ पचासों की संख्या में प्राप्त होना विशेष उल्लेखनीय है। राजस्थान के अतिरिक्त ऐसी रचनाएँ हिन्दी में प्रायः नहीं लिखी गईं। संतों का साहित्य अधिकांश वैराग्य, नीति, धर्म और भक्ति विषयक है। जैनों का साहित्य भी वैसा तो है ही पर कथाएँ भी सैकड़ों की संख्या में लिखी गई हैं। भक्ति और आध्यात्म के पद सत्रहवीं से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक हजारों ही मिलते हैं, उनमें से सैकड़ों तो छप भी चुके हैं।

दरबारी कवियों ने छन्द, अलंकार, कोश, नायक-नायिका भेद, काव्य-शास्त्र, संगीत, कृष्ण-लीला, काम-शास्त्र और फुटकर रचनाएँ अधिक की हैं क्योंकि राज-दरबारों में ऐसी रचनाओं की ही अधिक पूछ थी। शृंगारिक रचनाओं को राजा और पार्षद् लोग अधिक पसन्द करते थे, जब कि जनसाधारण नीति, धर्म, अध्यात्म और कथा वार्त्ता को विशेष पसन्द करते थे। संतों तथा जैनों का अधिक संपर्क जन-साधारण के साथ होने के कारण उन्होंने लोक-रुचि के अनुकूल और नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रेरणा देने वाले साहित्य का निर्माण अधिक किया। धार्मिक और पौराणिक ग्रंथ के गद्य और पद्यों के अनुवाद तथा उनके आधार से रचे जाने वाले साहित्य का परिमाण बहुत अधिक मात्रा में है।

राजस्थान की हिन्दी रचनाओं में नगर-वर्णनात्मक गजलें ऐतिहासिक दृष्टि से विशिष्ट स्थान रखती हैं। गज़लों के लेखकों ने अपना दृष्टिकोण व्यापक और सार्व-जनिक रखा है, भौगोलिक दृष्टि से भी इसका अपना महत्त्व है। जिस नगर का वर्णन किया गया है, उस नगर के हाट, बाजार, दर्शनीय स्थानादि का अच्छा वर्णन कर दिया गया है। सं० १६८० के आस-पास की रचित कवि जटमल नाहर की 'लाहौर गज़ल' नगरवर्णनात्मक गज़लों में सर्व प्रथम है। इसका अनुकरण जैन लेखकों ने बहुत अधिक किया। बीकानेर गजल संवत् १७६५ में उदयचन्द ने बनाई. उदयपुर और चित्तौड़ की गज़ल कवि खेतल ने संवत् १७४८ और १७५७ में। इसी प्रकार नागौर, मेड़ता जोधपुर, कापरड़ा आदि राजस्थान के तथा बाहर के बंगाल, आगरा आदि नगरों की

गजलें भी प्राप्त हुई हैं। मुनि कान्तिसागर जी ने 'हिन्दी पद्य संग्रह' में कुछ गजलें प्रकाशित की हैं। पूर्व देश वर्णन छन्द मेवाड़ छन्द और देशान्तरीय छन्द आदि 'छन्द' संज्ञक इसी प्रकार की अन्य कई रचनाएँ मिलती हैं।

समालोचनात्मक एक विशिष्ट हिन्दी रचना

आलोचना प्रत्यालोचना की परिपाटी दीर्घकाल से चली आ रही है। सब की आलोचना पद्धति एक-सी नहीं होती, तटस्थ समालोचक बहुत कम होते हैं। जो कृति के केवल दोषों को ही उद्घाटित कर गुणों पर ही समभाव से विचार करते हैं। इतना ही नहीं कवि के दोषों का परिहार करते हुए अपनी ओर से उसमें कुछ ऐसे सुझाव भी रख देते हैं जिससे उस कृति का महत्त्व और भी बढ़ सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के जैन योगी ज्ञानसार जी ऐसे ही एक वरिष्ठ समालोचक थे जिन्होंने आत्मानुभवी सत प्रवर आनन्दघन जी, देवचन्द्री, यशोविजयजी की रचनाओं पर विवेचना करते हुए रचयिता के प्रति पूर्ण आदरभाव व्यक्त करते हुए भी रचनाओं की त्रुटियों पर स्पष्टता-पूर्वक प्रकाश डाला है। सुकवि जिनराजसूरि की दिल खोलकर प्रशंसा की है तो ज्ञानविमल सूरि जी की कड़ी आलोचना करने में भी संकोच नहीं किया है। उनकी एक महत्त्व-पूर्ण समालोचनात्मक रचना ऐसी भी मिली है जो अपने ढंग की एक ही है। उसका यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

अठारहवीं शताब्दी के जैन कवि मोहनविजय ने चन्द्र राजा चौपाई नामक एक लोकप्रिय गुजराती काव्य बनाया। उसकी समालोचना योगीराज ज्ञानसारजी ने सवत् १८७७ के चैत्र कृष्णा २ को बीकानेर में लिखी। इसकी प्रथम विशेषता यह है कि यह समालोचना ४१३ दोहों में लिखी गई है। ऐसी पद्यबद्ध आलोचना उस समय की अन्य कोई जानने में नहीं आई। दूसरी विशेषता यह है कि यह मूल कवि के छन्द, अलंकार आदि दूषणों को दिखाते हुए प्रसंग-प्रसंग पर अपनी ओर से ऐसे दोहे भी जोड़ दिये हैं जिससे कृति की कमी की पूर्ति होकर उसकी शोभा में अभिवृद्धि हो गई है। प्रस्तुत रचना के आदि अन्त के कुछ दोहे यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

आदि—
ए निश्चै निश्चै करो, लखि रचना को मांझ।
छन्द अलंकारे निपुण, नहि मोहन कविराज॥
दोहा छंदे विषम पद, कही तीन दस मात।
सम में ग्यारै हूं धरै, छन्द गिरंये ख्यात॥
सो तो पहिले ही पदे मात रचो दो वार।
अलंकार दूषण लिखूं, लिखत चढत विस्तार॥

अन्त—
ना कवि की निन्दा करो, ना कुछ राखो कान।
कवि कृत कविता शास्त्र को सम्मत लिखो सयान॥

ज्ञानसारजी की अन्य हिन्दी रचनाओं में मालापिंगल नामक छन्द-शास्त्र, कामोद्दीपन, (जयपुर नरेश प्रतापसिंह के प्रशंसात्मक) प्रतापसिंह समुद्र-बद्ध-वचनिका,

बहुतरी, पद, पूर्व-देश वर्णन छन्द, भावषट्त्रिंशिका, आत्म-प्रबोध छत्तीसी, चरित्र छत्तीसी प्रस्ताविक अष्टोत्तकरी गूढा बावनी आदि प्राप्त हैं जिनमें से दो के अतिरिक्त सभी हमारी ज्ञानसार ग्रन्थावली में प्रकाशित हैं।

राजस्थान के अन्य हिन्दी जैन-कवियों में कतिपय उल्लेखनीय लेखकों और उनकी रचनाओं का परिचय भी यहाँ करा देना आवश्यक है—

सतरहवीं शताब्दी के कवि राजमल्ल ने 'छन्दोविद्या' नामक एक छन्द-शास्त्र की उल्लेखनीय रचना बनाई जो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी चारों भाषाओं में रचित है। इस तरह की अनेक भाषाओं में निवद्ध रचनाएँ विरली ही मिलती हैं। इसी शताब्दी के कवि दामो ने 'मदनशतक' नामक एक हिन्दी प्रेम कथा गद्य में लिखी है। ऐसी रचनाएँ भी कम मिलती हैं। इसमें दिया हुआ एक गुप्त प्रेम पत्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

कवि भद्रसेन 'चन्दन मलयागिरी' और जिन हर्ष ने नन्द बहुतरी लोककथाओं सम्बन्धी हिन्दी में रचनाएँ कीं। छन्द-ग्रन्थों में कवि हेमराज की 'छन्द-मालिक' उदयचन्द का 'छन्द प्रबन्ध', 'प्रस्तार-रत्नावली', ज्ञानसार का 'माला-पिंगल' उल्लेखनीय हैं। अलंकार और रस सम्बन्धी रचनाओं में भंडारी उत्तमचन्द का 'अलंकार आशय', भंडारी उदयचन्द का 'रस-निवास, रस-शृंगार, दूषण-दर्पण', मानकवि रचित 'भाषा कवि रस मंजरी, संयोग द्वात्रिंशिका', दामोदर रचित 'रस-मोह-शृंगार' नामक ग्रन्थ प्राप्त हैं। अलंकार आशय के सम्बन्ध में डॉ० मेनारिया ने लिखा है—"श्री उत्तमचन्द भंडारी की रचनाओं में 'अलंकार आशय' सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसमें अलंकार विषय का विवेचन बहुत ही शास्त्रीय ढंग पर हुआ है और उदाहरण में जो कविताएँ रखी गई हैं, वे भी बहुत उत्तम कोटि की हैं।"

अठारहवीं शताब्दी के श्वेताम्बर कवियों ने वैद्यक सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बनाए हैं। कवि लक्ष्मीवल्लभ, रामचन्द्र, मानकवि, समरथ ने कालज्ञान, वैद्य-विनोद, रामविनोद, कवि-विनोद, कवि-प्रमोद आदि अपने विषय की उत्तम रचनाएँ की हैं।

इसी शताब्दी के प्रारम्भ में आत्मानुभवी संत आनंदघन जी हो गए हैं, जिन्होंने बड़े उच्च-कोटि के आध्यात्मिक पद बनाए हैं। उनमें से दो साखी दी जा रही है—

> जग आसा जंजीर की, गति उलटी कछु और।
> जकर्‌यो धावत जगत में, रहै छूटो इक ठौर॥
> आतम अनुभव फूल की, नवली कोई रीत।
> नाक न पकरै वासना, कान न गहै परतीत॥

उन्नीसवीं शताब्दी के कवि बुधजन की सतसई संवत् १८८१ की रचना है जिसमें बड़ी कुशलता से अध्यात्म, वैराग्य और सदाचार की त्रिधारा प्रवाहित की है। इनकी 'तत्वार्थबोध, पंचास्तिकाय-पद्यानुवाद और बुध-जन-विलास' रचनाएँ भी प्राप्त हैं। एक पद की प्रारम्भिक पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं—

नर भव पाय फेरि दुख भरना, ऐसा काज न करना हो। न०
नाहक ममत ठानि पुद्गल सौं करम-जाल,क्यों परना हो ? । न०
यह तो जड़ तू ज्ञान अरूपी, तिल तुष ज्यों गुरु वरना हो। न०

सन्त-साहित्य

अब हम राजस्थान के सन्त-साहित्य का संक्षिप्त परिचय देंगे। राजस्थान में कई सन्त सम्प्रदाय हैं, जिनमें दादू पन्थ, रामस्नेही, निरंजनी, चरणदासी, जसनाथी, विश्नोइ आदि उल्लेखनीय हैं। जसनाथी और विश्नोई सम्प्रदाय का तो सारा साहित्य राजस्थानी में लिखा गया है। अन्यों का हिन्दी प्रधान राजस्थानी में। सन्त दादू बड़े आत्मानुभवी सन्त थे। उनकी अनुभव वाणी बड़े महत्त्व की है। इनके बावन शिष्य थे जिनमें से कई बड़े पहुँचे हुए संत थे। उन्होंने जो वाणियाँ लिखीं वे अनेक अगों में विभक्त हैं। सन्त दादू और रज्जब आदि की 'वाणि' प्रकाशित हो चुकी है। कुछ अन्य सन्त कवियों की भी स्वामी मंगलादास जी ने दादू पन्थी साहित्य की सूची प्रकाशित की है। हिन्दू और मुसलमान दोनों ने सन्त सम्प्रदायों को अपनाया। दादू पन्थ के मुसलमान कवि वाजिन्द की अनेकों रचनाएँ मिलती हैं। दादू पन्थी सम्प्रदाय के विद्वान् और सर्वोत्कृष्ट कवि सुन्दरदास हैं। इनकी रचनाओं का संग्रह दो भागों में पुरोहित हरि-नारायण जी द्वारा सम्पादित होकर राजस्थान रिसर्च सोसाइटी कलकत्ता से प्रकाशित हो चुका है।

रामस्नेही सम्प्रदाय की ३-४ शाखाएँ हैं। इनमें से सिंहस्थल और खेड़ापा की गुरू-परम्परा तो एक है। रैण और शाहपुरा की शाखा इनसे सर्वथा भिन्न है। रामस्नेही सम्प्रदाय और दादू पन्थी आदि राजस्थान के अन्य सन्त सम्प्रदायों का प्रचार एवं प्रभाव राजस्थान तक ही सीमित न होकर, मालव आदि अन्य प्रदेशों में भी रहा है। शाहपुरा शाखा का प्रादुर्भाव सन्त रामचरणजी से हुआ था। उनकी वाणी का विशाल संग्रह प्रकाशित हो चुका है। इस शाखा के कई अन्य सन्तों की रचनाओं का संग्रह बीकानेर के स्वामी केवलरामजी ने छपवाया है।

रैण शाखा का प्रादुर्भाव सन्त दरियावजी से हुआ। उनको तथा उनके अनुयायी सन्तों की वाणियों का कुछ संग्रह निकला है पर अभी तक इस शाखा के साहित्य की पूरी जानकारी प्रकाश में नहीं आई है। सिंहस्थल शाखा की कुछ वाणियाँ 'राम स्नेही-धर्मप्रकाश' में छपी हैं और खेड़ापा शाखा के प्रवर्तक रामदासजी की वाणी भी छप चुकी है। इनके शिष्य दयालजी ने भक्तमाल आदि कई रचनाएँ की हैं।

निरंजनी सन्त सम्प्रदाय के प्रवर्तक हरिरामजी थे। उनकी वाणी तथा इस सम्प्रदाय के अन्य सन्त कवियों की वाणी के कुछ नमूने उनके परिचय सहित स्वामी मंगलदास जी ने प्रकाशित किये हैं। इस सम्प्रदाय के कवियों में सन्त भगवानदास और मनोहरदास ने कई वेदान्त सम्बन्धी ग्रन्थ भी लिखे हैं। सन्त तुलसीदास आदि की विस्तृत वाणी मिलती है। डॉ० भगीरथ मिश्र का 'निरंजनी सम्प्रदाय और तुलसीदास" ग्रन्थ इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है। निरंजनी सम्प्रदाय पर डॉ० मनोरमा त्रिपाठी ने लिखा था

पर वह प्रकाशित नहीं हो पाया। सन्त हरिरामदास, भगवानदास और मनोहरदास की रचनाओं के सम्बन्ध में मेरे लेख छप चुके हैं। अन्य एक लेख में मैं निरंजन सम्प्रदाय के ज्ञात समस्त साहित्य का संक्षिप्त विवरण भी प्रकाशित कर चुका हूँ।

सन्त चरणदास से चरणदासी सम्प्रदाय प्रसिद्ध हुआ। चरणदासजी की रचनाओं का संग्रह "भक्तिसागर" के नाम से निकल चुका है। डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित ने भी चरणदास पर शोध कार्य किया है। सन्त चरणदास की शिष्याएँ सहजबाई और दयाबाई प्रसिद्ध हैं। इस सम्प्रदाय के कुछ अन्य सन्तों की जानकारी भी मुनि कांति-सागर जी आदि ने अपने लेखों में दी है पर अभी तक पूरी खोज नहीं हो पाई है।

जसनाथी सम्प्रदाय का प्रवर्तन जसनाथजी से हुआ। उनके "शब्द ग्रन्थ" का सम्पादन श्री सूर्यशंकर पारीक ने किया है और इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में उनका "सिद्ध-चरित्र" ग्रन्थ निकल चुका है। 'राजस्थान भारती' के नये अंक में प्रकाशित लेख में उन्होंने जसनाथी सम्प्रदाय के साहित्य का संक्षिप्त विवरण दिया है।

विश्नोई सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं—जांभाजी। उनकी जीवनी और वाणी छपी तो है पर अन्य लोगों के लिए दुर्लभ है, उसका प्रचार सम्प्रदाय तक ही सीमित है। श्री सूर्यशंकर पारीक ने जांभोजी की वाणी का सम्पादन किया है और वह भारतीय विद्या मंदिर शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर से प्रकाशित होने वाली है।

इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त और भी कई छोटे-छोटे सन्त सम्प्रदाय हैं। उनका थोड़ा ही साहित्य मिलता है। लालदासी आदि कई सम्प्रदायों के साहित्य की जानकारी तो अभी तक पूरी प्रकाश में भी नहीं आ पाई है। अलखिया सम्प्रदाय सम्बन्धी एक लेख व ग्रन्थ निकाल चुका है।

राजस्थान में नाथ सम्प्रदाय का भी काफी प्रभाव शताब्दियों से रहा है। गोरखनाथ की ख्याति तो वैसे सारे भारतवर्ष में है पर राजस्थान के सन्त सम्प्रदायों और लोक-मानस पर उनका काफी प्रभाव रहा है। नाथ सम्प्रदाय की कई शाखाएँ राजस्थान के अलग-अलग स्थानों में प्रभावशाली रही हैं। सन्त वाणी संग्रह के गुटकों में नाथ-पन्थी कवियों की वाणियों का संग्रह भी रहता है। ऐसी बहुत-सी प्रतियाँ राजस्थान के संग्रहालयों में हैं।

जोधपुर के महाराजा मानसिंह तो नाथ सम्प्रदाय के परम भक्त थे। उनके समय में नाथों के सम्बन्ध में काफी रचनाएँ लिखी गईं और सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कई ग्रन्थ लिखे गये हैं। राजकीय-पुस्तक प्रकाश में नाथ-पथी साहित्य का अच्छा संग्रह है।

सन्त सम्प्रदायों की तरह राजस्थान में कई भक्ति सम्प्रदाय भी हैं। ब्रज प्रदेश निकट रहने के कारण वहाँ के कृष्ण शक्ति के सम्प्रदायों का राजस्थान में अच्छा प्रचार हुआ। यहाँ के राजा उनके अनुयायी हो गये। नाथद्वारा, कांकरोली आदि वल्लभ सम्प्रदाय के प्रधान मंदिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जयपुर, सलीमाबाद आदि में गौडीय एवं निम्बार्क आदि कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों का अच्छा प्रभाव रहा। साथ ही राम-भक्ति सम्प्रदाय का भी केन्द्र जयपुर-गलता में है। इन सम्प्रदायों के राजस्थान में

रचे गये ग्रन्थों की स्वतन्त्र रूप से खोज नहीं हुई है। पर कुछ शोध-ग्रन्थों में राजस्थान की सामग्री का उपयोग हुआ है।

जैन-धर्म के मुख्यत: दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदाय हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में बीस-पंथ और तेरह पंथ दो प्रधान भेद हैं और श्वे० सम्प्रदाय में मूर्तिपूजक, स्थानकवासी और तेरहपंथी तीन उप सम्प्रदाय हैं। इन सभी सम्प्रदायों का राजस्थान में प्रचार रहा है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के अनेक गच्छ राजस्थान से ही प्रसिद्धि में आये। इन सभी सम्प्रदायों और गच्छों का साहित्य काफी विशाल है। दिगम्बर सम्प्रदाय का राजस्थान में रचित साहित्य वैसे सभी भाषाओं का है पर उनकी हिन्दी भाषा की रचनाओं की संख्या बहुत अधिक है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने राजस्थानी भाषा में निर्माण अधिक किया है। स्थानकवासी और तेरहपंथी सम्प्रदाय का तो पूरा साहित्य राजस्थानी में ही है।

सन्त कवियों में दादू, रज्जब, वाजिन्द, सुन्दरदास, भगवानदास, मनोहरदास, तुलसीदास आदि ने हिन्दी में 'वाणियाँ' नामक ग्रन्थ लिखे हैं। दादू सुन्दरदास, रज्जब आदि के ग्रन्थ छप चुके हैं। सन्त और भक्ति-साहित्य में सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ नाभादास का 'भक्तमाल' है। इसका प्रचार व प्रभाव अन्य प्रान्तों में भी काफी रहा है। इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गई और उसके अनुकरण में बहुत-सी भक्तमालें विभिन्न सम्प्रदायों की रची गईं। इनमें से दादू पन्थी राघवदास की भक्तमाल और उसकी चतुरदास रचित टीका का मैंने सम्पादन किया है। राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से कुछ महीने पहले ही यह सटीक भक्तमाल प्रकाशित हुई है। संत सुखसारण की भक्तमाल भी छप चुकी है। निरंजन सम्प्रदाय की भक्तमालादि भी प्रकाशित हैं।

राजस्थान के मुसलमान कवि न्यामत खां, जो जानकवि के नाम से प्रसिद्ध हैं हिन्दी में सर्वाधिक प्रेमाख्यान लिखे हैं। उनकी करीब ९० रचनाएँ प्राप्त हो चुकी हैं। राजस्थान के कविवर वृन्द तो ढाका बंगाल भी आये थे। उनकी सुप्रसिद्ध रचना 'वृन्द सतसई' संवत् १७६२ में ढाका में ही रची गई है।

चारण कवियों ने राजस्थानी के साथ-साथ हिन्दी में भी साहित्य निर्माण किया है जिनमें नरहरिदास का 'अवतारचरित्र' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

श्वेताम्बर जैन कवियों ने यद्यपि राजस्थानी में ही अधिक रचनाएँ की हैं पर कुछ हिन्दी रचनाएँ भी उनकी उल्लेखनीय हैं। विजयगच्छीय मानसिंह का 'राजविलास काव्य' ना० प्र० स० से छप चुका है।

दिगम्बर हिन्दी कवियों की संख्या काफी है। राजस्थान के शास्त्र भंडारों की सूची के ४ भागों द्वारा उनकी रचनाओं की जानकारी मिलती है। पद्य रचनाओं के साथ-साथ दिगम्बर लेखकों की गद्य रचनाएँ एवं टीकाएँ भी बहुत हैं। ढूंढाडी गद्य की रचनाओं का परिमाण लक्षाधिक श्लोकों का है। कवि बुधजन, दौलतराम आदि ने पद्य रचनाएँ और टोडरमल, सदासुख आदि ने गद्य रचनाएँ की हैं। राज्याश्रित श्वेताम्बर हिन्दी कवियों में जोधपुर महाराजा मानसिंह के मंत्री उत्तमचन्द्र और उदयचन्द्र भण्डारी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उदयचन्द की ३५ हिन्दी रचनाएँ प्राप्त हैं।

राजस्थान में हिन्दी के कई कवियों ने बहुत बड़े परिमाण के ग्रन्थ बनाये और कईयों ने छोटे ग्रन्थ बनाकर भी बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। उदाहरणार्थ, महाराजा जसवन्त-सिंह का 'भाषा-भूषण' छोटा-ग्रन्थ है। इसी तरह 'बिहारी सतसई' भी केवल ७०० दोहों का संग्रह है पर अपनी गुणवत्ता के कारण हिन्दी-साहित्य में इनका विशिष्ट एवं उल्लेखनीय स्थान है। मीरां के छोटे-छोटे पदों ने भारत भर में जो प्रतिष्ठा प्राप्त की है वह अन्य किसी को कम ही मिल सकी है। बड़े ग्रन्थों में जयपुर के चन्द कवि का 'भारत-भास्कर' एक लाख श्लोक से भी अधिक परिमाण का है। महाभारत के इस पद्यानुवाद की प्रति हमारे संग्रह में भी है।

आइने अकबरी, करावारीतू सफाई आदि फारसी के कुछ ग्रन्थों के राजस्थान के कवियों एवं लेखकों ने गद्य और पद्य में अनुवाद किये हैं। संस्कृत ग्रन्थों के तो बहुत से अनुवाद प्राप्त हैं ही। टीकाएँ भी संस्कृत एवं हिन्दी-ग्रन्थों की काफी लिखी गई हैं। कई हिन्दी ग्रन्थों के सचित्र संस्करण राजस्थान में तैयार हुए वे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अन्य प्रान्तों में रचित हिन्दी-साहित्य भी राजस्थान के ग्रन्थ संग्रहालयों में काफी परिमाण में प्राप्त हैं। इन सब दृष्टियों से राजस्थान की हिन्दी-सेवा बहुत ही उल्लेखनीय है।

इस तरह हम देखते हैं कि राजस्थान की साहित्यिक परम्परा बहुत गौरवशाली रही है। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी पांचों भाषाओं की अनेक विधाओं और विषयों की रचनाएँ परिमाण में विशाल हैं और बहुत ही उपयोगी हैं। इन रचनाओं से राजस्थान के लोक-जीवन के विकास में बहुत प्रेरणा मिली है।

वीर-रस के अनूठे साहित्य ने वीरों और सतियों को अपने कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर किया है। भक्ति और नीति साहित्य ने जन-जीवन को नैतिक एवं भक्ति-भाव की प्रेरणा दी है। शृंगार-रस के साहित्य ने जीवन में सरसता प्रदान की है। सन्तों की वाणियों ने धार्मिक और आध्यात्मिक प्रेरणा दी है। इस तरह साहित्य ने जीवन को गति दी है और ठीक मार्ग पर आगे बढ़ाया है। लोक-गीतों ने जीवन को आनन्द और उल्लास दिया है। लोक-कथाओं ने मनोरंजन के साथ-साथ अनेक प्रकार की शिक्षाएँ दी हैं। पहेलियों ने बुद्धिवर्द्धन का काम किया है। कहावतों ने अनुभव-पूर्ण शिक्षा-सूत्रों का काम किया है। मुहावरों ने भाषा को सजीवता दी है। भजनों ने एक मस्ती और सात्त्विक आनन्द प्रदान किया है। वीरों, संतों एवं सतियों सम्बन्धी साहित्य ने जीवन-निर्माण एवं उत्थान की कला सिखाई है।

बंगाल से राजस्थान का सम्बन्ध दूर होते हुए भी काफी निकट का सा रहा है। गत ३ शताब्दियों से तो वह दृढ़तर और घनिष्ठ होता जा रहा है। राजस्थान के हजारों परिवार और लाखों व्यक्ति बंगाल में रहते हैं। बंगीय संस्कृति का उन पर काफी प्रभाव पड़ा है। १८वीं शताब्दी में जगत्सेठ के पूर्वज मुर्शिदाबाद में आये और अपना प्रभाव जमाया। उसके बाद राजस्थान से बराबर बंगाल में लोग आते रहे हैं। कई परिवार तो बंगाल के निवासी बन गये हैं। बंगाली जनता के साथ उनका बहुत ही मधुर एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है।

बंगला भाषा से राजस्थानी भाषा की समानता और निकटता भी विशेशरूप से उल्लेखनीय है। मेरे भ्रातृ-पुत्र भंवरलाल ने कई बार इस सम्बन्ध में चर्चा की। वास्तव में इस विषय पर गम्भीर अध्ययन और चिन्तन व विवेचन होना चाहिए।

राजस्थान से बंगाल में आए हुए कई कवियों एवं लेखकों ने बंगला-भाषा में भी छोटी-मोटी रचनाएँ की हैं और बंगाल के सम्बन्ध में अपनी रचनाओं में विवरण भी दिया है। अठारहवीं शताब्दी में जैन यति निहाल ने बंगाल देश का वर्णन 'बंगाल देश की गजल' में किया है। ६४ पद्यों की यह हिन्दी रचना 'भारतीय विद्या' वर्ष १ अंक ४ में प्रकाशित हो चुकी है। इसमें मुख्यतः मुर्शिदाबाद का वर्णन है, उस समय वहाँ का नवाब शुजाशाह जो सुजाखाँ या शुजाउद्दौला के नाम से प्रसिद्ध है, का राज्य था। इस गजल में उस समय के मुर्शिदाबाद का वर्णन किया गया है। मुर्शिदाबाद के वालुचर, महिमापुर, कासम बाजार का वर्णन है। फिर नवाबी सूबों में हाजीपुर, अजीमाबाद, ढाका, रंगपुर, चटगांव, सिलहट्ट, रंगमाटी, वीरभूमि, पचेट, हिजरी, विसनपुर, अकबनगर, कोचविहार के नाम दिये हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में कविवर ज्ञानसार बंगाल में आये और उन्होंने 'पूर्व देश वर्णन छन्द' नामक १३३ पद्यों की रचना की। इसमें बंगाल व मुर्शिदाबाद में कवि ने जो कुछ अच्छा या बुरा देखा, उसका चित्र खींचा है। हमारे सम्पादित 'ज्ञानसार ग्रन्थावली' में यह रचना प्रकाशित हो चुकी है। "कलकत्ता गजल" आदि और भी कई रचनाएँ मिलती हैं।

* * *